श्रीसदानन्दयोगीन्द्रप्रणीतो

वेदान्तसारः

[स्वामिरामतीर्थवरचितविद्वान्मनोरञ्जनी टीका
हिन्दी अनुवाद, टिप्पणी आदि से संवलित]

व्याख्याकार

तारिणीश झा

व्याकरणवेदान्ताचार्य

प्रकाशन केन्द्र

रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ–226 020

(फोन : 73035, 75538)

विषय-सूची

—:※:—

भूमिका

'वेदान्तसार' एक दार्शनिक ग्रन्थ है। अतएव इसके सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व कम से कम भारतीय दर्शन का थोड़ा परिचय दे देना अनावश्यक नहीं होगा।

सामान्यतया दर्शन का अर्थ है—ज्ञान-प्राप्ति के साधन का आध्यात्मिक दृष्टि से दर्शन अर्थात् साक्षात्कार करना। प्रत्येक दर्शन का उद्देश्य है तत्त्वदर्शन अर्थात् सत्य का साक्षात्कार करना। समस्त भारतीय दर्शनों को स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है—आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक दर्शन वे हैं—जो वेदों की प्रामाणिकता को मानते हैं और 'नास्तिक' दर्शन वे हैं—जो वेदों की प्रामाणिकता को नहीं मानते हैं। इस व्याख्या के अनुसार नास्तिक दर्शन तीन हैं—(१) चार्वाक, (२) बौद्ध और (३) जैन। क्योंकि ये वेदों की प्रामाणिकता को नहीं मानते हैं। फिर जो वेदों की प्रामाणिकता को मानते हैं ऐसे आस्तिक दर्शन छह हैं—(२) न्याय, (२) वैशेषिक, (३) सांख्य, (४) योग, (५) मीमांसा और (६) वेदान्त। वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए उनके मन्त्रों का अर्थ अपने मतानुसार करने की स्वीकृति दी गई है।

नास्तिक

(१) चार्वाकदर्शन

यह भौतिकवादी दर्शन है। यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पदार्थों में से केवल अर्थ और काम को मानता है। इसकी दृष्टि में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त और कोई अन्य प्रमाण नहीं है। आत्मा, परमात्मा तथा स्वर्ग आदि को भी यह नहीं मानता है। इसका एकमात्र उद्देश्य है—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' अर्थात् येन केनोपायेन सुखभोग के लिये मनुष्य को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। इस दर्शन का प्रवर्तक एक बृहस्पति नाम का आचार्य माना जाता है।

(२) बौद्धदर्शन

बौद्धदर्शन की स्थापना गौतमबुद्ध (५३५-४८५ ई० पू०) ने की थी। बुद्ध के पश्चात् उनकी शिक्षाओं की अनेक व्याख्यायें की गई और १८ सम्प्रदायों का उदय हुआ। किन्तु, उनमें से दो सम्प्रदाय ही अधिक महत्त्व के हैं—हीनयान और महायान।

हीनयान सम्प्रदाय को 'स्थविरवाद' और 'सर्वास्तित्ववाद' भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत दो प्रमुख शाखायें हैं—वैभाषिक और सौत्रान्तिक। वैभाषिक का अर्थ है 'विशिष्ट भाष्य'। विभाषा त्रिपिटक का टीकाग्रन्थ है और चीनी भाषा में सुरक्षित है। विभाषा के आधार पर विकसित होने के कारण ही इस शाखा का नाम 'वैभाषिक'

पड़ा। इसके प्रवर्तक धर्मकीर्ति और दिङ्नाग हैं। वैभाषिकों का मत है कि ज्ञान और ज्ञेय दोनों सत्य हैं।

सूत्रान्त या बुद्ध के वचनों के आधार पर विकसित होने के कारण दूसरी शाखा का नाम 'सौत्रान्तिक' पड़ा। इसका प्रवर्तक कुमारलब्ध (३०० ई०) है। सौत्रान्तिकों का मत है कि ज्ञान सत्य है और ज्ञेय की सत्यता अनुमान के द्वारा ज्ञात होती है।

महायान सम्प्रदाय का उदय हीनयान सम्प्रदाय के विरुद्ध प्रतिक्रिया से हुआ। महायान के अन्तर्गत भी दो शाखायें हैं—माध्यमिक और योगाचार। इनमें से मध्य मार्ग का अनुसरण करने के कारण पहली शाखा का नाम 'माध्यमिक' पड़ा। इसका प्रवर्तक नागार्जुन (१४३ ई० के लगभग) है। माध्यमिकों का मत है कि ज्ञान भी सत्य नहीं है। वे शून्यतावाद को मानते हैं।

योगाचार शाखा यौगिक क्रियायों में आस्था रखती है और मानती है कि बोध की प्राप्ति योगाभ्यास द्वारा ही हो सकती है। इसीलिये इसका नाम योगाचार पड़ा। इसके प्रवर्तक मैत्रेयनाथ और आर्य असंग (४०० ई०) हैं।

(३) जैनदर्शन

जैन दर्शन के संस्थापक वर्धमान महावीर (५६६-५२७ ई० पू०) थे। उनकी शिक्षायें उनसे पहले के ऋषभदेव, पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकरों की मूल अहिंसा-सिद्धान्त के अनुसार थीं। उनके निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् उनके अनुयायी दो भागों में विभक्त हो गये—(१) दिगम्बर और (२) श्वेताम्बर। दिगम्बर-मार्ग के अनुयायियों का यह मत है कि मोक्ष के इच्छुक को चाहिये कि वह अपनी सभी वस्तुओं का परित्याग कर दे। स्त्रियाँ मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हैं। अतएव इस मार्ग के अनुयायी पूर्ण दिगम्बरत्व (नग्नता) का प्रचार करते थे।

श्वेताम्बर मार्ग के अनुयायी श्वेताम्बर (श्वेत वस्त्र) पहनना स्वीकार करते हैं और उनके मतानुसार स्त्रियाँ भी मोक्ष की अधिकारिणी हैं।

जैनों के प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्धान्त या आगम हैं। भद्रबाहु जैनों के सबसे प्राचीन लेखक थे। इस नाम के दो जैन लेखक थे, एक प्राचीन और दूसरा परकालीन। उन दोनों का समय क्रमशः लगभग ४३३-३५७ ई० पू० और लगभग १२ ई० पू० माना जाता है। इसके बाद सिद्धसेन दिवाकर (५ म शती) और अकलङ्कदेव (८ म शती) आदि विद्वानों ने जैन दर्शन को बहुत समृद्ध बनाया।

आस्तिक

(१) न्याय-दर्शन

'न्याय' शब्द का प्रारंभ में अर्थ था—वेदों की उचित विधि से व्याख्या करना। अतः न्याय शब्द से प्रायः मीमांसा दर्शन का अर्थ लिया जाता था। आपस्तम्बसूत्र (११. ४, ८, १३ और ११, ६, १४, १३) में न्याय शब्द का प्रयोग पूर्वमीमांसा के अर्थ में ही हुआ है, पर बाद में न्यायदर्शन के लिए न्याय शब्द का प्रयोग होने लगा।

यथा—'न्यायविद्धर्मतत्त्वज्ञः षडङ्गविदनुत्तमः' (महाभारत २, ५, ३)। इसकी टीका में लिखा है—'न्यायः पञ्चाङ्गमधिकरणम्'। यहाँ पञ्चाङ्ग का तात्पर्य प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयवों से है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने भी लिखा है कि प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव परम न्याय हैं—'सोऽयं परमो न्यायः इति' (न्या० भा० १,१,१)। फिर वात्स्यायन ने न्याय शब्द का पारिभाषिक अर्थ किया है—'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' अर्थात् प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा करना न्याय कहलाता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि न्याय विद्या विशेष रूप से अनुमान का विवेचन करती है—'प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा। तया प्रवतत इत्यान्वीक्षिकी—न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्' (न्या० भा० १,१,१) अर्थात् प्रत्यक्ष और आगम के आश्रित अनुमान होता है, वही अन्वीक्षा कहलाता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा ईक्षित का अन्वीक्षण (पश्चात् मनन) होता है। उस अन्वीक्षा से जो प्रवृत्त होती है, वह आन्वीक्षिकी न्यायविद्या या न्यायशास्त्र है। न्याय-सूत्रों के वृत्तिकार विश्वनाथ ने भी लिखा है कि 'न्यायसूत्र' नाम ही इस बात का द्योतक है कि न्यायसूत्र के रचयिता महर्षि गौतम के समय 'न्याय' शब्द न्यायविद्या के लिए प्रसिद्ध हो गया था। इसे यत्र-तत्र हेतुविद्या, हेतुशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि अन्यान्य नामों से भी व्यवहृत किया गया है।

न्यायसूत्रों की रचना विक्रम से पूर्व चतुर्थ शतक में हुई थी। वात्स्यायन (वि० द्वितीय शतक) ने न्याय-सूत्रों पर भाष्य लिखा। उस पर बौद्धों द्वारा किये गये आक्षेपों का उत्तर देने के लिए उद्योतकर (षष्ठ शतक) ने वार्तिक लिखा। उस पर भी बौद्धों द्वारा उपस्थापित विप्रतिपत्तियों का निराकरण करने के लिए सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र (नवम शतक) ने तात्पर्य-टीका का प्रणयन किया। फिर दशम शतक में आचार्य उदयन ने 'तात्पर्य-परिशुद्धि' में वाचस्पति के तात्पर्य को व्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया। वाचस्पति तथा उदयन दोनों मैथिल मनीषी थे तथा ये अपने मौलिक चिन्तन और अलौकिक प्रतिभा के लिए विद्वत्समाज में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं।

न्याय दर्शन की दो धारायें प्राचीन न्याय और नव्य न्याय नामक हैं। पहली धारा के प्रवर्तक गौतम कहे जाते हैं। इसमें प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति व निग्रहस्थान नामक सोलह पदार्थों की यथार्थ विवेचना की गई है तथा इसे 'पदार्थ-मीमांसात्मक' कहते हैं। दूसरी धारा का उदय सर्वप्रथम मैथिल मनीषी गंगेश उपाध्याय (१२वीं शती) के युगप्रवर्तक ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' से हुआ और यह धारा 'प्रमाणमीमांसात्मक' कहलाती है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शब्द प्रमाणों के अंग-प्रत्यंग का विस्तृत सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

वस्तुतः न्याय दर्शन में उक्त षोडश पदार्थों के यथार्थ ज्ञान के द्वारा निःश्रेयस् का अधिगम मानव जीवन का परम लक्ष्य मानते हुए यही कहा गया है कि दीपक के

प्रकाश से जिस प्रकार वस्तुओं का ज्ञान होता है उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश से पदार्थों के वास्तविक रूप का बोध होता है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती है—यह सिद्धान्त स्वीकार करते हुए भी शुद्ध ज्ञान प्राप्ति के साधनों की यथार्थ मीमांसा न्यायदर्शन में ही की गई है। न्याय दर्शन द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों व हेत्वाभासों के अत्यन्त प्रामाणिक विवरण का उपयोग अन्य दर्शनों में भी पर्याप्त मात्रा में किया जाता है। साथ ही इस दर्शन में आत्मा का भी सुन्दर विवेचन किया गया है। और आत्मा को शरीर, मन, बुद्धि से पृथक् एक स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध किया गया है तथा ध्यान-धारणादि उपायों के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करना एवं चित्त की सुख-दुःख से रहित साम्यावस्था को प्राप्त करना ही न्याय दर्शन का परम लक्ष्य है।

(२) वैशेषिक-दर्शन

'वैशेषिक' नाम इस आधार पर पड़ा है कि इस दर्शन में 'विशेष' को एक पृथक् पदार्थ माना गया है। अर्थात् इस मत में एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न इसलिए है कि उनमें रहने वाला 'विशेष' भिन्न-भिन्न है। और विशेष का स्वरूप ही 'स्वतो व्यावृत्त' माना गया है। इस प्रकार नित्य द्रव्य परमाणु आदि में रहने वाला अन्तिम भेदक धर्म 'विशेष' कहा जाता है। हर परमाणु में रहने वाला विशेष एक दूसरे से भिन्न और स्वतो व्यावृत्त ही है, इसलिए उसके आगे और कोई भेदक धर्म नहीं है। विशेष अन्तिम भेदक धर्म है और वह नित्य द्रव्य परमाणु आदि में रहता है। इसी 'विशेष' नाम के पदार्थ का अनुसन्धान करने के कारण इस शास्त्र को लोग 'वैशेषिक' कहने लगे।

यह दर्शन औलूक्यदर्शन भी कहलाता है। इसका कारण जैन लेखक राजशेखर ने न्यायकन्दली की टीका में एक जनश्रुति के आधार पर यह बतलाया है कि कणादमुनि की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् ने उलूक के रूप में प्रकट होकर कणाद को द्रव्य आदि पदार्थों का उपदेश दिया था। अतः उलूक से उक्त होने के कारण इसका नाम औलूक्य पड़ा।

जिस प्रकार सांख्य के साथ योग और मीमांसा के साथ वेदान्त का नाम लिया जाता है, उसी प्रकार न्याय के साथ वैशेषिक का नाम लिया जाता है। इससे स्पष्ट है कि दोनों मत एक दूसरे के निकट हैं और उनके इस परस्पर सम्बन्ध के ही कारण उन्हें समानतन्त्र भी कहा जाता है। यों तो ये दोनों दर्शन न्याय और वैशेषिक बौद्धों के क्षणिकवाद का समान रूप से खंडन करते हैं और सांख्य के विश्व-रचना-सिद्धान्त की उपेक्षा करके पृथ्वी, जल, तेज और वायु नामक चार तत्त्वों को विश्व रचना के लिए उत्तरदायी मानते हैं—तथा जीव का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति मानते हुए कर्मवाद को स्वीकार करते हैं, पर दोनों में अनेक विषमतायें भी हैं, अतः दोनों का अपना पृथक्-पृथक् महत्त्व है। सच तो यह है कि वैशेषिक दर्शन में सत्य की मीमांसा भौतिक विज्ञान की दृष्टि सामने रखकर की गई है। जहाँ न्याय दर्शन का प्रधान लक्ष्य अन्तर्जगत् व ज्ञान की मीमांसा है वहाँ वैशेषिक दर्शन का मूल लक्ष्य वाह्य जगत् की विस्तृत समीक्षा है। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन का मूल विषय पदार्थ-विचार ही है और उसमें पदार्थों को भाव

एवम् अभाव नामक दो प्रधान वर्गों में विभाजित करके संसार में उपलब्ध वास्तविक अस्तित्व की वस्तुओं अर्थात् जीवित शरीरधारी वस्तुओं का अभाव माना गया है। वैशेषिक दर्शन में पहले भाव को ही पदार्थ मानकर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष व समवाय नामक छह पदार्थों के अन्तर्गत ही विश्व की समस्त वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार किया गया। कालान्तर में अभाव को भी सातवाँ पदार्थ मान लिया गया। अतः वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थ स्वीकृत हो गए।

द्रव्यगुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायोऽभावश्च पदार्थाः सप्त कीर्तिताः।।

वैशेषिक दर्शन में गुणों व कर्मों के आधार को द्रव्य कहा गया और गुण व क्रिया से युक्त द्रव्य को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा व मन नामक नौ प्रकारों में विभाजित करके उन्हें पुनः सक्रिय द्रव्य तथा निष्क्रिय द्रव्य नामक दो भागों में विभाजित किया गया है। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में परमाणु को महत्ता प्रदान करते हुए उसे अविभाज्य, सूक्ष्मतम, अवयवहीन और नित्य कहा गया तथा उन्हें विश्व का कारण स्वरूप समझा गया; क्योंकि इन्हीं के संयोग से वस्तुओं का निर्माण होता है। द्रव्य, गुण व कर्म के समान धर्मों के योग का नाम सामान्य और वस्तुओं के पारस्परिक वैधर्म्य का ज्ञान विशेष कहा गया है। समवाय व विशेष जैसे नित्य पदार्थों का अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिये समवाय नामक नित्य सम्बन्ध की सत्ता भी स्वीकार की गई। संक्षेप में इस दर्शन के अनुसार निष्काम कर्मों का सम्पादन भी नितान्त आवश्यक है, क्योंकि ऐसे कर्मों का अनुष्ठान तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि में परम्परया कारण है। यहाँ यह स्मरणीय है कि वैशेषिक दर्शन अत्यधिक प्राचीन है। और उसके प्रवर्तक (वैशेषिक सूत्रों के प्रणेता) महर्षि कणाद हैं। पर प्रशस्तपाद (४०० ई०) व्योम शिवाचार्य, श्रीधराचार्य, वल्लभाचार्य, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र, शंकर मिश्र, पद्मनाभ मिश्र, जगदीश भट्टाचार्य और विश्वनाथ न्यायपञ्चानन ने इस दर्शन पर भाष्य, टीका, टिप्पणी आदि प्रस्तुत कर उसे पर्याप्त रूप से पुष्ट कर दिया। यों तो प्रारम्भ में न्याय व वैशेषिक स्वतन्त्र दर्शन ही थे पर दशम शतक के पश्चात् दोनों के सिद्धान्तों का समन्वय कर दिया गया।

(३) सांख्य-दर्शन

न्याय व वैशेषिक दर्शन की अपेक्षा सांख्य दर्शन अधिक प्राचीन है। इस दर्शन के सूक्ष्म तत्त्व वैदिक काल में भी उपलब्ध होते हैं। इसके अनुसार व्यक्त (प्रकट), अव्यक्त (अप्रकट) और ज्ञ (ज्ञाता) के ज्ञान से सांसारिक दुःखों की समाप्ति होती है। यह दर्शन वैदिक कर्मकाण्ड को विशेष महत्त्व नहीं देता है और प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द—इन तीन प्रमाण को मानता है। इसके अनुसार संसार में प्रकृति और पुरुष ये दोनों स्वतन्त्र तथा अविनाशी सत्तायें हैं। प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार और अहंकार से पाँच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं, जिनसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और

एक मन उत्पन्न होकर प्रकृति या उससे निर्मित पदार्थों की संख्या २४ हो जाती है। फिर उनमें पुरुष को मिला देने से उनकी संख्या २५ हो जाती है। इस प्रकार तत्त्वों की संख्या के कारण ही यह दर्शन सांख्य कहलाता है।

सांख्य दर्शन सत्कार्यवादी है अर्थात् इसके अनुसार कार्य अपने साररूप में पहले से ही विद्यमान रहता है और कार्य व कारण में केवल आकार का ही भेद है अन्यथा तात्त्विक दृष्टि से दोनों अभिन्न हैं। इस प्रकार यह दर्शन कार्य का कोई नवीन पदार्थ न मानकर कारण को ही एक व्यक्त रूप मानता है और उसकी दृष्टि में पुरुष व प्रकृति का विवेक न होने से ही संसार का अस्तित्व है। पर दोनों के विवेक की अवस्था में मोक्ष निश्चित है। सांख्यमतानुयायियों ने सत्कार्यवाद के समर्थन में अनेक युक्तियाँ भी दी हैं और 'सांख्यकारिका' में तो स्पष्टतया कहा गया है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

इस दर्शन के संस्थापक कपिल मुनि ने इसके सिद्धान्त आसुरि को पढ़ाये। आसुरि का समय ६०० ई० पू० से पूर्व माना जाता है। आसुरि ने यह दर्शन पञ्चशिख को पढ़ाया। तत्पश्चात् वार्षगण्य ने इस दर्शन को विकसित किया। उन्होंने 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ लिखा था, जो अप्राप्य है। इस दर्शन का सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'तत्त्वसमास' माना जाता है। ईश्वरकृष्ण (लगभग २५० ई०) ने अपने पूर्ववर्ती लेखकों के मन्तव्यों को 'सांख्यकारिका' के ७२ श्लोकों में निबद्ध किया। सांख्यकारिका की तीन टीकायें प्रसिद्ध हैं—(१) माठरवृत्ति, (२) गौडपादभाष्य और (३) सांख्यतत्त्वकौमुदी। इन तीनों में भी सांख्यतत्त्वकौमुदी की अधिक मान्यता है, जिसका प्रणयन सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र ने किया था। इन कारिकाओं के अतिरिक्त कपिलमुनि के लिखे सांख्यसूत्र हैं।

(४) योग-दर्शन

योगदर्शन ने सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों को अपनाया है और उनका संशोधन भी किया है। योगदर्शन का मत है कि केवल व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ के ज्ञान से ही मोक्ष नहीं हो सकता है, अतः इस दर्शन ने क्रियात्मक जीवन के लिये सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों पर आश्रित नियम बनाये हैं। प्रकृति और प्रकृति-विकारों के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त होने के लिये चित्त की वृत्तियों (मन के कार्यों) पर पूर्ण नियन्त्रण होना अत्यावश्यक है। इसी को पारिभाषिक रूप में योग कहते हैं। अथवा योग शब्द के दो अर्थ हैं—मिलन व समाधि। अतः एक ओर तो भगवान् को प्राप्त करना या उनसे मिलना ही योग है तथा दूसरी ओर सम्यक् प्रकार से भगवान् से मिल जाना ही समाधि का अभिप्राय है। वस्तुतः कामना, वासना, आसक्ति व संस्कारों का त्याग करने पर ही भगवान् से मिलन सम्भव है। अतः जीव और ब्रह्म के बीच सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद को दूर कर उसमें मिल जाना ही योग है।

इस योग के दो प्रकार हैं—प्रथम में साधक अपनी सत्ता को समाप्त करके

ईश्वर या ब्रह्म में उसी प्रकार विलीन हो जाता है जैसे सागर की तरंगें अपनी सत्ता समाप्त करके उसी सागर में लीन हो जाती हैं। द्वितीय में साधक अपनी कुछ स्वतन्त्र सत्ता भी रखता है और वह पूर्ण रूप से ईश्वर में लीन नहीं हो जाता।

योगदर्शन का परम लक्ष्य ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना है। उसमें ईश्वर-प्राप्ति के लिए मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग व राजयोग नामक चार साधनायें तथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा व समाधि आठ मार्गों का विवेचन किया गया है। इनमें से प्रथम पाँच बहिरंग और अन्तिम तीन अन्तरंग कहे गये हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि योगदर्शन प्राचीन है और जैनियों एवं बौद्धों ने भी उसका महत्त्व स्वीकार किया है। नाथ पंथ व सिद्ध मत में भी योग को पूर्ण सम्मान प्राप्त है पर उन्होंने योग के विविध प्रकारों में से अपने अनुकूल प्रकार का ही समर्थन किया है।

यों तो उपनिषद् आदि में भी योग का वर्णन मिलता है, किन्तु पतञ्जलि (दूसरी शती ई० पू०) ने योगसूत्र लिखकर इसकी प्रतिष्ठापना की। चौथी शती में व्यास ने योगसूत्र की 'योगसूत्र भाष्य' नामक टीका लिखी। नवीं शती में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र ने व्यास के भाष्य पर 'तत्त्ववैशारदी' नामक टीका का प्रणयन किया। धारा के राजा भोज ने ग्यारहवीं शती में 'राजमार्तण्ड' नामक टीका लिखी। फिर विज्ञानभिक्षु ने लगभग १५५० ई० में 'पातञ्जलभाष्यवार्तिक' नाम से इसकी टीका लिखी।

(५) मीमांसा-दर्शन

मीमांसादर्शन का सम्बन्ध वेदों के पूर्वभाग—कर्मकाण्ड से है। कर्मकाण्ड का तात्पर्य संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों से है। अतएव इस दर्शन को पूर्वमीमांसा भी कहते हैं। यह दर्शन वेदों को नित्य एवं स्वतः प्रमाण मानता है। इस दर्शन की दो प्रमुख धारायें हैं—(१) भाट्ट शाखा और (२) प्राभाकर शाखा। भाट्टशाखा के आचार्य प्रमाणों की संख्या ६ मानते हैं। जैसे—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। पर प्राभाकर शाखा के आचार्य अनुपलब्धि को न मानकर उक्त ५ ही प्रमाण मानते हैं।

मीमांसा-दर्शन का प्रथम ग्रन्थ जैमिनि का मीमांसा-सूत्र चौथी शती ई० पू० की रचना है। पहली शती ई० पू० में शबर स्वामी ने मीमांसा-सूत्र की टीका 'मीमांसा-सूत्रभाष्य' नाम से की। सातवीं शती में कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकर ने उक्त भाष्य की टीका की। प्रभाकर कुमारिल भट्ट के शिष्य माने जाते हैं। उन्होंने मीमांसादर्शन की एक नवीन शाखा स्थापित की। उनके नाम के आधार पर उसका नाम प्राभाकर शाखा पड़ा। कुमारिलभट्ट से उनका जिन बातों पर मतभेद था, उनका इस शाखा में निरूपण किया गया है। प्रभाकर को 'गुरु' की उपाधि प्राप्त थी, क्योंकि वेदों की व्याख्या में उनकी प्रतिभा असाधारण थी। अतएव कुमारिल की शाखा के मतों को 'भाट्टमत' और प्रभाकर की शाखा के मतों को 'गुरुमत' कहा गया है।

कुमारिल ने शाबरभाष्य की जो टीका की, वह तीन भागों में विभक्त है—(१) श्लोकवार्तिक। यह मीमांसादर्शन के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद की श्लोकबद्ध टीका है। (२) तन्त्रवार्तिक। यह गद्य और पद्य में है। यह मीमांसादर्शन के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से प्रारंभ होकर तृतीय अध्याय के अन्त तक की टीका है। (३) टुप्टीका। यह शेष भाग की टीका है।

मण्डन मिश्र कुमारिलभट्ट के समकालीन थे। वे एक सुविख्यात मीमांसक और वेदान्ती थे। उन्होंने मीमांसादर्शन पर तीन ग्रन्थ लिखे हैं—विधिविवेक, भावनाविवेक और मीमांसानुक्रमणिका। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र ने विधिविवेक की टीका न्यायकणिका लिखी। फिर वाचस्पति मिश्र ने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ तत्त्वबिन्दु लिखकर मीमांसा-दर्शन को बहुत बड़ी देन दी है। उनके बाद पार्थसारथि मिश्र (१०५०-११२० ई०) ने कुमारिल के श्लोकवार्तिक और टुप्टीका पर टीका लिखने के अतिरिक्त मीमांसादर्शन पर सर्वांगपूर्ण तथा व्यापक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ शास्त्रदीपिका लिखा है, जिसमें कुमारिल के मत का अनुसरण किया है। फिर उन्होंने अपने न्यायरत्नमाला नामक ग्रन्थ में भाट्ट शाखा और प्राभाकर शाखा के मतभेदों का स्पष्टीकरण किया है। इसी प्रकार प्रभाकर के ग्रन्थों पर टीका लिखने वाले शालिकनाथ (६५०—७३० ई०) आदि आचार्य हुए हैं।

(६) वेदान्त-दर्शन

वेदान्त-दर्शन अध्यात्मशास्त्र का मुकुटमणि कहा जाता है। इसका अर्थ है वेद का अन्तिम अंश या सार। उपनिषदें वेदों का अन्तिम अंश मानी गई हैं। उपनिषदों पर आधारित होने के कारण इस दर्शन को वेदान्त कहा जाता है—**'वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्'** (वेदान्तसार १)। वैसे इस दर्शन का उद्गम ऋग्वेद से हुआ है। महर्षि प्रजापति परमेष्ठी ऋग्वेद में जगत् के मूलतत्त्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं—**'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'** (ऋ० १०।१२६।२) अर्थात् सृष्टि के प्रारंभ में एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपनी शक्ति से श्वास लेती थी। यह मंत्र अद्वैत ब्रह्म की ओर संकेत करता है, जो वेदान्त का प्रतिपाद्य है।

ऊपर बताया जा चुका है कि वेदान्त उपनिषदों पर आधारित है। वस्तुतः पिता-पुत्र के पारस्परिक अन्तर के समान वेदान्त और उपनिषदों में स्वल्प विभेद है। उपनिषदों में जो सिद्धान्त यत्र-तत्र असम्बद्ध अवस्था में उपलब्ध हैं और तर्क की कसौटी पर कसे नहीं गये, उन्हीं सिद्धान्तों को वेदान्त में सुसम्बद्ध क्रम में करके तर्क की कसौटी पर कसा गया है। डॉ० ए० बी० कीथ ने लिखा है—'उत्तरमीमांसा या वेदान्त उपनिषदों के समग्र दार्शनिक सिद्धान्तों को अपने अन्दर सन्निविष्ट करने वाले एक ही दर्शन के निर्माण के उद्देश्य से उन सिद्धान्तों को समन्वित रूप में दिखाता है'।

वेदान्तदर्शन का परिचायक सर्वप्रथम ग्रन्थ है—वेदान्त-सूत्र। इसका दूसरा नाम ब्रह्मसूत्र भी है। क्योंकि इसका प्रधान विषय है—ब्रह्म का वर्णन। इस ग्रन्थ का

कलेवर पाँच सौ पचपन सूत्रों से निर्मित हुआ है। इन सूत्रों के रचयिता महर्षि बादरायण व्यास माने जाते हैं। ये सूत्र पाणिनि से भी प्राचीन हैं; क्योंकि उन्होंने 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (४।३।११०) सूत्र में पाराशर्य (पराशर के पुत्र = व्यास) निर्मित जिन भिक्षुसूत्रों का निर्देश किया है वे इन ब्रह्मसूत्रों से भिन्न नहीं प्रतीत होते। श्रीधर स्वामी की सम्मति में 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' (१३।४) इस पद्यांश में गीता ब्रह्मसूत्रों का ही निर्देश करती है। अतः इन सूत्रों का रचनाकाल विक्रमपूर्व षष्ठ शतक के लगभग है। इन सूत्रों वाले 'ब्रह्मसूत्र' ग्रन्थ में चार अध्याय हैं—(१) समन्वयाध्याय। इसके अनुसार उपनिषदें ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। (२) अविरोधाध्याय। इसमें अन्य दर्शनों के मन्तव्यों का खंडन किया गया है। (३) साधनाध्याय। इसमें मोक्ष के साधनों का वर्णन किया गया है। (४) फलाध्याय। इसमें उपयुक्त साधनों के परिणामों का वर्णन है।

किन्तु इन सूत्रों में कम से कम शब्द प्रयुक्त हुए हैं। फलतः बिना किसी व्याख्या या भाष्य के उनका अर्थ स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी दार्शनिक दृष्टि के अनुकूल इन सूत्रों की विशद व्याख्यायें लिखी हैं। इसी कालान्तर में वेदान्त के नये-नये सम्प्रदाय बन गये, जिनमें से कुछ प्रसिद्ध आचार्यों, उनके भाष्यों और मतों का उल्लेख इस प्रकार किया जाता है—

आचार्य	समय	भाष्य	मत
१. शंकर	(७०० ई०)	शारीरक-भाष्य	अद्वैत
२. भास्कर	(१००० ई०)	भास्कर-भाष्य	भेदाभेद
३. रामानुज	(११४० ई०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४. माध्व	(१२३८ ई०)	पूर्णप्रज्ञ	द्वैत
५. निम्बार्क	(१२५० ई०)	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत
६. श्रीकण्ठ	(१२७० ई०)	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैत
७. श्रीपति	(१४०० ई०)	श्रीकरभाष्य	वीरशैवविशिष्टाद्वैत
८. वल्लभ	(१५०० ई०)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९. विज्ञानभिक्षु	(१६०० ई०)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
१०. बलदेव	(१७२५ ई०)	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेद

ये सभी मत जिन ग्रन्थों पर आधारित हैं, वे हैं—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता। इन तीनों ग्रन्थों को भारतीय दर्शन में प्रस्थानत्रयी के नाम से अभिहित किया गया है। प्रायः सभी मतों ने इस प्रस्थानत्रयी की टीकायें की हैं और उनमें अपने मन्तव्यों की पुष्टि की है। प्रत्येक मत ने यह प्रयत्न किया है कि वह रामायण, महाभारत और कुछ अंश तक पुराणों के उद्धरण देकर अपने सिद्धान्तों और व्याख्याओं की पुष्टि करे। कुछ दार्शनिक मत प्रस्थानत्रयी के अतिरिक्त आगमग्रन्थों पर भी निर्भर हैं और कुछ मत सर्वथा आगम-ग्रन्थ पर ही निर्भर हैं।

यद्यपि इनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी मौलिक विशेषताओं एवं उद्भावनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं, तथापि ब्रह्मसूत्रों की अत्यन्त प्रांजल भाषा में सूक्ष्म, संगत, स्फीत, सुगम तथा समन्वयात्मक व्याख्या करने के कारण जैसी व्यापकता अद्वैत वेदान्त या शंकर वेदान्त ने प्राप्त की वैसी अन्य वेदान्त ने नहीं। शांकर वेदान्त के सिद्धान्त का प्रतिपादक यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र चरम सत्य है। जीव और जगत् की सत्ता मिथ्या है। अज्ञान (माया, अविद्या) के कारण जीव और जगत् की सत्ता प्रतीत होती है, किन्तु वह रस्सी में सर्प की प्रतीति की भाँति असत्य है और जब ज्ञान के द्वारा यह आभास नष्ट हो जाता है तो ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है। शंकर के अद्वैतवाद के अनुसार यह ब्रह्म निर्गुण है, अनन्त है किन्तु माया से उपहित होकर सगुणरूप में जीव का उपास्य एवं जगत का सृष्टिकर्ता है। इसी ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करना ही प्रत्येक जीव के जीवन का लक्ष्य है। इसी ऐकात्म्य का अनुभव करना ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अनुभव है। इसका दूसरा नाम मोक्ष है। इसकी प्राप्ति ज्ञान के द्वारा होती है। भक्ति और कर्म ज्ञान के सहायक हैं क्योंकि इनके द्वारा आत्मसंस्कार होने पर ही मनुष्य ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बनता है और इस प्रकार ज्ञान के प्राप्त होने पर जीव को ब्रह्मस्वरूप स्वात्मानुभव होता है। इस अवस्था में जीव का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता; प्रत्युत इसकी सत्ता अनन्त ब्रह्म में विलीन हो जाती है। इस परिस्थिति में जगत् की सत्ता भी विलीन हो जाती है, क्योंकि जीव और जगत् दोनों की सत्ता व्यावहारिक है—जब तक जीव सांसारिक बन्धनों में रहता है तभी तक उनकी प्रतीति होती है, किन्तु मोक्ष की दशा में इन सबका स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप अखण्ड में पर्यवसान हो जाता है। संक्षेप में यही है अद्वैतवाद या अद्वैतवेदान्त का मन्तव्य।

आचार्य रामानुज के अनुसार ईश्वर समस्त सद्गुणों का निकेतन है। ब्रह्म सगुण ही होता है, निर्गुण नहीं। जीव तथा जगत् उसी के दो प्रकार हैं या विशेषण हैं। इन जीव तथा जगत् रूप विशेषणों से विशिष्ट ईश्वर एक है। इसलिए इस सिद्धान्त को अद्वैत न कहकर विशिष्टाद्वैत कहते हैं।

आचार्य निम्बार्क के मत में जीव और ईश्वर व्यवहार-काल में भिन्न-भिन्न हैं इसी कारण इस मत को द्वैताद्वैत कहते हैं।

मध्वाचार्य के मत में (१) जीव और ईश्वर में कभी भी एकता नहीं है। वे सदा से भिन्न हैं और सदा भिन्न रहेंगे। जहाँ अन्य सिद्धान्त वाले अनेकता तथा एकता का समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं वहाँ माधव मत में यह समन्वय होता ही नहीं—सदा अविच्छिन्न द्वैत बना रहता है। (२) ईश्वर इस जगत् का केवल निमित्त कारण ही है, उपादान कारण नहीं, परन्तु अन्य आचार्यों की दृष्टि में वह दोनों है—जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण वह स्वयं है। इस मत को इसी कारण द्वैतमत कहते हैं।

वल्लभाचार्य मायावाद को न मानकर केवल अद्वैत को मानते हैं। अतः उनका मत शुद्धाद्वैत है, माया से मिश्रित अद्वैत नहीं।

चैतन्य महाप्रभु का सम्प्रदाय, जिसके मत के मन्तव्यों को लक्ष्य में रखकर आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने ब्रह्मसूत्र पर गोविन्द भाष्य रचा है, माध्व मत की ही ऐतिहासिक दृष्टि से एक शाखा है, परन्तु दार्शनिक मत में नितान्त भिन्न है। इस मत में ईश्वर तथा जीव में भेद तथा अभेद दोनों हैं किन्तु वह अचिन्त्य है अर्थात् अलौकिक शक्ति से सम्पन्न ईश्वर की यह अचिन्तनीय लीला है। अतएव इस मत को अचिन्त्य-भेदाभेद कहते हैं।

अद्वैत वेदान्त की गुरु-परम्परा

अद्वैत वेदान्त की गुरु-परम्परा अति प्राचीन है। इस परम्परा के आद्य आचार्य और आदि स्रोत भगवान् नारायण माने जाते हैं। यह परम्परा इस प्रकार है—

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्॥

श्री शङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्।
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मदगुरून् सन्ततमानतोऽस्मि॥

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम्।
नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम्॥

इनमें नारायण से लेकर शुकदेव पर्यन्त ब्रह्मविद्या के आचार्य पौराणिक व्यक्ति हैं, अतः आधुनिक ऐतिहासिक विचार से बहिर्भूत हैं। किन्तु आचार्य गौडपाद के समय से यह परम्परा ऐतिहासिक प्रामाणिकता को प्राप्त कर लेती है।

गौडपाद—वास्तव में अद्वैतवाद के प्रथम प्रवर्तक आचार्य गौडपाद ही सिद्ध होते हैं। सर्वप्रथम अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का क्रमबद्ध रूप में प्रतिपादन इन्हीं के द्वारा हुआ है। इनकी प्रसिद्ध कृति माण्डूक्योपनिषद् पर आधारित माण्डूक्यकारिका है। यह ग्रन्थ चार प्रकरणों में विभक्त है—(१) आगमप्रकरण, (२) वैतथ्य प्रकरण, (३) अद्वैत प्रकरण और (४) अतीतशान्ति प्रकरण। माण्डूक्यकारिका से गौडपाद के दार्शनिक विचारों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। वह अनादि माया को ही द्वैत का कारण मानते हैं। मायिक जगत् के लिए उन्होंने स्वप्न, मरीचिकाजल एवं गन्धर्व-आदि के दृष्टान्त दिये हैं। उनके मत में यथार्थ सत्ता एकमात्र आत्मा की ही है, जो सदैव अजन्मा, जाग्रत् एवं स्वयंप्रकाश है। माण्डूक्यकारिका के अतिरिक्त आचार्य गौडपाद के नाम से उत्तरगीता तथा सांख्यकारिका का भाष्य भी मिलता है। ये आचार्य शंकर के गुरु गोविन्दपाद के भी गुरु थे, अतः डा० राधाकृष्णन् ने इनका समय आठवीं शती का प्रारम्भ अथवा सातवीं शती का उत्तरार्ध माना है। किन्तु भवविवेक की तर्कज्वाला के तिब्बतीय अनुवाद में माण्डूक्यकारिका के उद्धरण प्राप्त होने से और भवविवेक (५००ई०)

के ह्वेनसांग के पूर्ववर्ती होने के कारण गौडपाद को ५०० ई० के पहले रखना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

गोविन्दपाद—ये गौडपादाचार्य के शिष्य तथा आचार्य शंकर के गुरु थे। इन्होंने किसी वेदान्त-ग्रन्थ का प्रणयन किया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। अब रसहृद नामक रसायनशास्त्र का एक ग्रन्थ इनके नाम से अवश्य उपलब्ध होता है। जनश्रुति है कि इनका शरीर रसप्रक्रिया से सिद्ध था, तथा एक सहस्र वर्ष की अवस्था में भी ये षोडशवर्षीय प्रतीत होते थे।

आचार्य शंकर—आचार्य शंकर भारतीय मनीषा के नभो-मण्डल में चमकने वाला वह नक्षत्र है, जिसके प्रकाश को देश-काल की सीमायें अवरुद्ध न कर सकीं। इन्होंने अद्वैत वेदान्त को इतना अधिक समृद्ध तथा प्रभावित किया कि ये अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक ही जाने लगे तथा इस वेदान्त का नाम ही शंकर वेदान्त पड़ गया। इन्होंने प्रस्थानत्रयी—श्रुति, स्मृति और सूत्र—उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र पर अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार युगप्रवर्तनकारी भाष्य लिखकर आने वाली सहस्राब्दियों में विद्वन्मानसपटल पर अपनी ज्ञानगरिमा का चित्र अंकित कर दिया। उपलब्ध प्रमाणों और सबल उक्तियों के आधार पर प्रतिष्ठित विद्वानों ने इनका आविर्भाव ७८८ ई० में और तिरोभाव ८२० ई० में निश्चित किया है। कुल ३२ वर्ष की अल्पायु में इन्होंने जो कार्य किया, वह मानव-प्रतिभा की अप्रतिम उपलब्धि है।

आचार्य शंकर ने अद्वैत वेदान्त की जिस धारा को गति दी, उसे और प्रगति की ओर उनके शिष्य-प्रशिष्य ले गये। आचार्य शंकर से आगे चलने वाली वेदान्ताचार्यों की पंक्ति बहुत लम्बी है। उनमें से कुछ ने वेदान्त-साहित्य को अत्यन्त समृद्ध किया। यथा—

आचार्य सुरेश्वर—शंकराचार्य ने वैदिक वर्णाश्रमधर्म और अद्वैत वेदान्त के प्रचारार्थ भारतवर्ष के चार कोणों में चार पीठों—उत्तर में बदरिकाश्रम के निकट ज्योतिष्पीठ, पूर्व में पुरुषोत्तम क्षेत्र (पुरी) में गोवर्धनपीठ, दक्षिण में रामेश्वर क्षेत्र में शृंगेरी मठ और पश्चिम में द्वारकाधाम में शारदापीठ—की स्थापना करके सुरेश्वर, पद्मपाद, त्रोटक और हस्तामलक—इन चार प्रतिभाशाली शिष्यों को पीठाधीश्वर के पद पर अभिषिक्त किया। इन शिष्यों में सुरेश्वर और पद्मपाद ने विशेष ख्याति अर्जित की। सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक, पञ्चीकरणवार्तिक, नैष्कर्म्य सिद्धि इत्यादि ग्रन्थों का निर्माण किया। ये वार्तिककार के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि शंकराचार्य से शास्त्रार्थ में पराजित होकर मण्डन मिश्र ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होकर वे ही सुरेश्वर कहलाये।

आचार्य पद्मपाद—पद्मपादाचार्य ने ब्रह्मसूत्र के चतुःसूत्री भाष्य पर पञ्चपादिका नामक एक व्याख्या लिखी। यह व्याख्या ही शांकर वेदान्त के विवरण-प्रस्थान का मूलाधार है। इसको पञ्चपादिका कहने का कारण यह है कि इसमें वेदान्तशास्त्र की उपादेयता को सिद्ध करने वाले अध्यास, ब्रह्म जिज्ञासा, ब्रह्म का लक्षण, ब्रह्म में प्रमाण और ब्रह्म में समन्वय—इन पाँच पादों का विस्तृत व्याख्यान किया गया है।

वाचस्पति मिश्र—आचार्य शंकर के समान ही सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र (नवम शतक) भी सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले आचार्य थे। इन्होंने प्रायः सभी दर्शनों के साहित्य को समृद्ध किया। वेदान्त के ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पर 'भामती' नामक टीका की रचना करके अपूर्व गौरव प्राप्त किया। जिस प्रकार पञ्चपादिका ने विवरण प्रस्थान को जन्म दिया, उसी प्रकार यह टीका भी भामतीप्रस्थान की जननी बनी।

विद्यारण्य—विद्यारण्य मुनि का नाम 'माधव' बताया जाता है, जो अपने पूर्वाश्रम में वेदों के भाष्यकार सायण के भाई थे। ये संन्यासाश्रम ग्रहण करने पर विद्यारण्य नाम से श्रृंगेरी मठ के अध्यक्ष बने। इनका स्थितिकाल १२९६ ई० से १३८६ ई० तक निश्चित किया जाता है। जीवन्मुक्तिविवेक, पञ्चदशी, शंकरदिग्विजय आदि इनकी महनीय कृतियाँ हैं।

मधुसूदनसरस्वती—ये सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वेदान्ती हैं। इनका प्रधान कीर्तिस्तम्भ अद्वैतसिद्धि है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्तविन्दु, वेदान्तकल्पलतिका, प्रस्थान-भेद, भक्तिरसायन आदि नौ ग्रन्थ इनके और उपलब्ध होते हैं।

धर्मराजाध्वरीन्द्र—ये भी १६वीं शती के एक अन्य आचार्य हैं। इनकी उत्कृष्ट प्रतिभा और विद्वत्ता का परिचायक ग्रन्थ है—'वेदान्तपरिभाषा'। इसका अध्ययन नव्यन्यायशैली में वेदान्तसम्मत प्रमाणों के ज्ञान के लिये आवश्यक एवम् उपयोगी है। इस पर उनके पुत्र रामकृष्णाध्वरीन्द्र की वेदान्तशिखामणि नामक टीका भी उपलब्ध है।

सदानन्दयोगीन्द्र—ये भी १६वीं शती के वेदान्ताचार्य हैं। इनकी ख्यातिप्राप्त कृति 'वेदान्तसार' है। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

इन महाविभूतियों के अतिरिक्त अद्वैत वेदान्तसाहित्य को अन्य अनेक मनीषियों ने भी समृद्ध किया है। जिसमें श्रीहर्ष, चित्सुख, अप्पयदीक्षित, प्रकाशात्मा, ब्रह्मानन्द-सरस्वती, नारायणतीर्थ, सदानन्दयति प्रभृति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वेदान्तसार

'वेदान्तसार' एक प्रकरण-ग्रन्थ है। ऐसे ग्रन्थों की रचना का कारण यह है कि ग्यारहवीं शताब्दी में बहुत से विद्वान् टीका-परम्परा को छोड़कर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने में प्रवृत्त होने लगे। इस युग में शास्त्र के सर्वांगीण विवेचना की अपेक्षा किसी विशिष्ट अंग का विवेचन अधिक उपयोगी समझा जाने लगा। परिणामतः एक विशेष प्रकार के ग्रन्थों का प्रचलन अधिक हो गया, जिन्हें प्रकरण-ग्रन्थ कहा जाता है। प्रकरण-ग्रन्थ एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका लक्षण इस प्रकार है—

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥

(पराशर-उपपुराण)

अर्थात् किसी शास्त्र के एक अंश के प्रतिपादक और आवश्यकतानुसार उससे भिन्न शास्त्र के उपयोगी अंश का भी प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ-भेद को विद्वान् लोग प्रकरण-ग्रन्थ कहते हैं।

इस दृष्टि से 'वेदान्तसार' प्रकरण-ग्रन्थ ही है, क्योंकि इसमें वेदान्तशास्त्र के कुछ ही अंशों का प्रतिपादन किया गया है। जैसे इसमें माया, ईश्वर, जीव एवं जगत् का परिचय कराकर 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यार्थ तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभववाक्यार्थ के वर्णनपूर्वक जीवन्मुक्त का विवेचन किया गया है। साथ ही बौद्ध आदि दर्शनशास्त्रों के मतों का खण्डन करने के लिए उनके कुछ अंशों का भी प्रतिपादन किया गया है।

यद्यपि इसमें वेदान्तशास्त्र के कुछ प्रमुख विषय ही प्रतिपादित हैं, तथापि इन विषयों के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने से एवं इनके प्रतिपादन की सारग्राहिणी संक्षिप्त विवेचन-शैली के कारण यह ग्रन्थ शांकरवेदान्तसम्प्रदाय के प्रकरणग्रन्थों में अपना अत्यन्त विशिष्ट स्थान रखता है। परन्तु यह कुछ बातों में शांकर मत के सिद्धान्तों से भिन्नता भी रखता है। उदाहरणार्थ इसमें ब्रह्म और आत्मा का दो समान रूपों में विकास दिखाया गया है, जो शंकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित नहीं है। इसमें ईश्वर — जीव, तैजस—हिरण्यगर्भ तथा वैश्वानर—विश्व को समष्टि और व्यष्टि के रूप में रखकर भ्रान्ति उत्पन्न कर दी गई है। 'सम्पूर्ण जीवों की समष्टि ईश्वर है' यह कथन बुद्धिगम्य नहीं है। इससे तो मालूम पड़ता है कि ईश्वर की अपनी स्वतन्त्र सत्ता और व्यक्तित्व ही नहीं है। भला समस्त जीवों का यह समूह एक क्रमबद्ध कार्य करने में कैसे समर्थ हो सकता है? फिर शंकराचार्य ने माया, अविद्या, अज्ञान आदि का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है, समष्टि या व्यष्टि अज्ञान में उन्होंने कोई भेद नहीं किया है, किन्तु 'वेदान्तसार' में माया को समष्टि अज्ञान कहा गया है और अविद्या को व्यष्टि अज्ञान, ठीक उसी प्रकार जैसे वृक्षों की समष्टि को वन तथा व्यष्टि को पलाश, खदिर आदि कहते हैं।

जो भी हो, यह ग्रन्थ वेदान्त का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये अत्यधिक उपादेय है। यही कारण है कि इसके रचनाकाल से ही इस पर टीकायें लिखी जाने लगीं। पहले पहल नृसिंह सरस्वती ने १५८८ ई० में इस पर 'सुबोधिनी' लिखी। तदनन्तर कृष्णतीर्थ के शिष्य रामतीर्थ यति (सप्तदश शतक ई० का पूर्वार्ध) ने 'विद्वन्मनोरञ्जनी' नामक टीका लिखी, जो अत्यधिक पाण्डित्यपूर्ण है। इस टीका में विभिन्न ग्रन्थों से लगभग ४३० उद्धरण दिये गये हैं। प्रस्तुत संस्करण में यह टीका प्रकाशित है। इसके बाद सप्तदश शतक ई० के ही प्रसिद्ध मीमांसक आपदेव द्वितीय ने इस पर 'बालबोधिनी' नाम्नी टीका लिखी। आधुनिक काल में भी अंग्रेजी तथा हिन्दी आदि भाषाओं में इस पर टीका-टिप्पणियाँ लिखी गई हैं।

वेदान्तसार का रचयिता

'वेदान्तसार' के रचयिता सदानन्द योगीन्द्र के जीवन तथा समय के विषय में हमें बहुत कम ज्ञात है। वैसे अपनी टीका सुबोधिनी के अन्त में नृसिंह सरस्वती ने उसका रचना-काल शक संवत् १५१० (अर्थात् १५१८ ई०) बताया है—

जाते पञ्चशताधिके दशशते संवत्सराणां पुनः
सजाते दशवत्सरे प्रभुवरश्रीशालिवाहे शके ।
प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासेऽनुमत्यां तिथौ
प्राप्ते भार्गववासरे नरहरिष्टीकां चकारोज्ज्वलाम् ॥

फिर एक स्थान पर नरहरि (नृसिंह) योगी ने यह भी संकेत किया है कि सद्मनन्द उनके गुरु थे—

'इयता प्रबन्धेन निपादितेऽस्मिन् वेदान्तसाराख्ये ग्रन्थे श्रीमत्परमगुरुपरमहंस-परिव्राजकाचार्यसदानन्दयोगीन्द्रेण महापुरुषेण.........'।

इस प्रकार यदि सुबोधिनी का रचनाकाल १५८८ ई० माना जाय तो सदानन्द का समय उससे कम से कम ५० वर्ष पूर्व मानना होगा। फलतः सदानन्दयोगीन्द्र का समय १६वीं शती ई० का प्रारम्भ ठहरता है। म० म० गोपीनाथ कविराज ने भी सदानन्द का यही समय माना है।

(१) जीव

शांकर वेदान्त के अनुसार जीव ब्रह्म ही है—'जीवो ब्रह्मैव नापरः', 'जीवानां स्वरूप वास्तवं ब्रह्म'। किन्तु व्यवहारदशा में ब्रह्म ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उपाधियों से युक्त होकर जीव कहलाता है। जीव ही प्रमाता, भोक्ता तथा कर्ता है। यह पाप-पुण्य का अर्जन करता है और उसका फल भोगता है। यही आवागमन और संसरण करता है। यही बन्ध और मोक्ष का अधिकारी है।

जीव के तीन शरीर होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण। स्थूल शरीर पञ्च-भूतों से निर्मित है। सूक्ष्म शरीर का निर्माण पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि—इन सत्रह अवयवों से मिलकर होता है। कारण शरीर अविद्यानिर्मित आवरण है।

(२) ब्रह्म

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म एक ऐसी सर्वव्यापी सत्ता है, जो जगत् के अणु अणु में व्याप्त है। वह निर्गुण एवं निराकार होने से प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण द्वारा ग्राह्य नहीं है। अतः ब्रह्म की सिद्धि शब्द-प्रमाण द्वारा की जाती है। श्रुतियों में स्थान-स्थान पर उसकी सत्ता को स्वीकार किया गया है—

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'।
'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'।
'एतमानन्द अयमात्मानमुपसंक्रामति' इत्यादि।

सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही विवर्त है। जैसे मृत्तिका ही सत्य है और उससे बने पात्र केवल नाम मात्र के विकार हैं, उसी प्रकार ब्रह्म ही सत्य है। माया ब्रह्म की शक्ति है, पर वह माया से लिप्त नहीं होता। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार ब्रह्म से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है।

—'स यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्यादात्मनः (ब्रह्मणः) सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।'

छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म की व्याख्या 'तज्जलान्' पद के द्वारा की गई है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (३,१४)

तज्ज = जिससे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता हो, तल्ल = जिसमें जगत् लीन होता हो तथा अन = स्थितिकाल में जिसमें जगत् स्थित रहकर चेष्टा करता हो। वास्तव में ब्रह्म के यथार्थ रूप का वर्णन असम्भव है। वह अति विलक्षण है मन एवं वाणी की सीमा से परे है। श्रुति का कथन है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥

(३) आत्मा

आत्मन् शब्द अत् सातत्ये धातु से मनिण् प्रत्यय करके बना है, जिसका अर्थ होता है सदैव चलना। इस व्युत्पत्ति के अनुसार आत्मा को गतिशील कहा जाता है। फिर आचार्य शंकर ने कठोपनिषद्भाष्य में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हुए आत्मा के चार व्युत्पत्तिमूलक अर्थों का उल्लेख किया है—

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

अर्थात् जो सर्वत्र व्याप्त है, सबको अपने में लीन करता है, समस्त विषयों का उपभोग करता है और जिसकी सत्ता सदा बनी रहती है, उसे आत्मा कहा जाता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा की सिद्धि के लिये कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं सिद्ध है। उसके अस्तित्व को कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता, क्योंकि अस्वीकृत करने वाला स्वतः आत्मा है। सभी को अपनी सत्ता का अनुभव होता है—'मैं नहीं हूँ' ऐसा कोई नहीं सोचता—

आत्मनः प्रत्याख्यातुम् अशक्यत्वात्। य एव निराकर्त्ता तस्यैव आत्मत्वात्। सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति। न नाहमस्मीति। (शांकर भाष्य)।

आत्मा नित्य प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था में तो वह बाह्य और आन्तरिक विषयों का ज्ञान रखता ही है, सुषुप्ति में भी 'मैं खूब सोया' यह स्मृति इसका स्पष्ट प्रमाण है; पूर्व अनुभव का मानस प्रत्यक्ष ही स्मृति है। चैतन्य होने के कारण यह सभी प्रत्ययों का साक्षी है। आत्मा को प्रकाशित करने के लिए किसी की आवश्यकता नहीं है। वह प्रज्ञानघन है।

आत्मा प्राणिगत चैतन्य है, अतः सम्पूर्ण संसार आत्मा के लिए ही प्रिय होता है। पति, पुत्र, पत्नी, धन आदि केवल इसलिए प्रिय होते हैं कि वे आत्मा को प्रिय लगते हैं। अतः आत्मा का ही दर्शन, श्रवण और मनन करना चाहिए। बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद में इस तथ्य को व्यक्त किया गया है—

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति·········।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इति।

आत्मा का स्वरूप बुद्धि से अगम्य है। वह अणु से भी छोटा और महत् से भी महान् है, समस्त प्राणियों के भीतर स्थित है, यही जीव का वास्तविक स्वरूप है, जिसका साक्षात्कार वह साधना तथा परमात्मा की कृपा से ही कर पाता है—

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितं गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥
(क० २, २३)

(४) ईश्वर

वेदान्त-मत में 'परब्रह्म' निरुपाधिक निर्गुण है, किन्तु 'अपरब्रह्म' सोपाधिक सगुण है। उपाधियुक्त सगुण सविशेष ब्रह्म ही 'ईश्वर' नाम से अभिहित किया जाता है। स्वयं में निष्क्रिय, निरवयव, निष्प्रपञ्च ब्रह्म जिस क्षण अपनी अनिवर्चनीय माया शक्ति से उपहित हो जाता है, उसी क्षण वह 'ईश्वर' संज्ञा वाला हो जाता है।

यह ईश्वर स्थावर जंगमात्मक निखिल प्रपञ्चों का साक्षी होने से तथा समस्त अज्ञानों को प्रकाशित करने के कारण 'सर्वज्ञ' है। सभी जीवों को उनके कर्मानुसार फल देने के कारण 'सर्वेश्वर' है। सभी जीवों को कर्मानुसार नियन्त्रित करने के कारण 'सर्वनियन्ता' है। प्रमाणों के द्वारा यह जाना नहीं जा सकता, अतः 'अव्यक्त' है। सभी जीवों के अन्तर्हृदय में स्थित होकर प्रेरणा देने के कारण 'अन्तर्यामी' है। और सम्पूर्ण चराचर विश्व का विवर्तरूप में अधिष्ठान होने के कारण 'जगत् का कारण' भी है—

'एतत् (विशुद्धसत्त्वप्रधानसमष्ट्यज्ञान—) उपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्व-सर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते' (वेदान्त-सार)।

रामानुजाचार्य ने ईश्वर को परब्रह्म, भुवनों का उपादान, कर्ता तथा जीवों का नियामक आदि विशेषणों से युक्त बताया है—

'वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः।
भुवनानामुपादानं कर्ता जीवनियामकः॥'

ईश्वर ही उपासना का विषय है। ब्रह्म तो प्रसन्नता और क्रिया से रहित है। अतः उसकी उपासना नहीं हो सकती। मायायुक्त ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) की ही उपासना होती है—

'निर्गुणमपि सत् ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणम् उपासनार्थमुपदिश्यते' (शां० भा०)।

(५) माया

'माया' शब्द उच्चारण में जितना सुगम एवं सरल है, वर्णन की दृष्टि से उतना ही कठिन है। आचार्यों ने कई प्रकार से इसका वर्णन किया है। यथा—यह जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है। एक वस्तु में दूसरी की मिथ्या प्रतीति विवर्त्त कहलाती है। रेतीली भूमि पर धूप में चमकती हुई सीपी को देखकर उसमें चाँदी की प्रतीति होती है। यहाँ चाँदी सीपी का विवर्त्त है। इसी प्रकार अंधेरे में पड़ी रस्सी को साँप समझ लिया जाय, तो साँप रस्सी का विवर्त्त है। सीपी में चाँदी तथा रस्सी में साँप की प्रतीति के समान ही ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती है। इस प्रतीति को उत्पन्न करने वाला तत्त्व माया है। यह माया अपनी आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियों से ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित करके उसमें जगत् की सृष्टि करती है। 'दृग्दृश्यविवेक' में इसी प्रकार माया की दोनों शक्तियों का वर्णन किया गया है—

'शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्॥
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥

तैत्तिरीय उपनिषद् में माया का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

'नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी॥'

आचार्य शंकर ने माया का निरूपण प्रायः इन्हीं शब्दों में किया है। उनके अनुसार माया न तो ब्रह्म के समान यथार्थ है, न आकाशकुसुम के समान अयथार्थ ही। यह परब्रह्म की बीजशक्ति है तथा अविद्यात्मिका है। उन्होंने इसी को अव्यक्त भी कहा है—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥

(विवेकचूडामणि)

शंकराचार्य ने माया और अविद्या को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है, किन्तु परवर्ती वेदान्तियों ने दोनों में अन्तर स्थापित किया है। पञ्चदशीकार विद्यारण्य ने ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति के दो भेद किये हैं—माया और अविद्या। जिस प्रकृति में विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता है, वह माया है तथा जिसमें मलिन सत्त्व की प्रधानता है, वह अविद्या है। माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ईश्वर कहलाता है और अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव।

वेदान्तसार में माया को समष्टि अज्ञान और अविद्या को व्यष्टि अज्ञान कहा गया है। माया ईश्वर की उपाधि होने से शुद्ध सत्त्वप्रधान है और अविद्या जीव की उपाधि होने से मलिनसत्त्वप्रधान है। पर दोनों स्वभाव में बिलकुल एक हैं। जब जीव-

गत विभिन्न अज्ञानों का व्यवहार करना होता है तो 'व्यष्टि' और जब सबका एकत्व में व्यवहार करना होता है तो 'समष्टि' कहा जाता है। वृक्ष और वन की भाँति दोनों अभिन्न हैं। दोनों के लिए श्रुति प्रमाण है—'अजामेकाम्'—तथा 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'।

(६) प्रमाण-विचार

किसी भी कथन की सत्यता का आधार प्रमाण है। प्रमाण कहते हैं प्रमा के करण को और प्रमा का अर्थ है यथार्थज्ञान। प्रमा की सिद्धि तीन घटकों—प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण पर निर्भर करती है—

'प्रमाता' वह है जो ज्ञान को प्राप्त करता है। जो विषय ज्ञात किया जाता है वह 'प्रमेय' है। इस प्रमेय की प्राप्ति की प्रक्रिया 'प्रमाण' है अर्थात् प्रमाता जिसके द्वारा किसी अर्थ का अनुभव करता है वह प्रमाण है—'स येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्'।

इस प्रमाण की संख्या बहुविध है। दर्शनशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में स्वीकृत प्रमाण की संख्याओं में भिन्नता है—

'प्रत्यक्षमात्रं चार्वाक् बौद्धा वैशेषिका द्वयम्।
सांख्या योगस्त्रयं चैव तार्किकाश्च चतुष्टयम् ॥
पञ्च प्रभाकरा भाट्टास्तथा वेदान्तिनश्च षट्।
पौराणिकास्तथा चाष्टौ प्रमाणानि ब्रुवन्ति वै ॥'

अर्थात् वेदान्ती छह प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को, वैशेषिक तथा बौद्ध प्रत्यक्ष एवं अनुमान को, सांख्य इन दोनों के साथ शब्द को, न्याय इन तीनों के साथ उपमान को और मीमांसक अर्थापत्ति को छोड़कर शेष पाँच को प्रमाण मानते हैं।

(७) ईश्वर और जीव

ईश्वर और जीव दोनों की व्यावहारिक सत्तायें हैं। पञ्चदशीकार के अनुसार ये दोनों माया रूपी कामधेनु के बछड़े हैं—**'मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ'**। माया से विशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है, इसे सगुण ब्रह्म भी कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा का अज्ञान विशिष्ट रूप जीव है। यह जीव सुख, दुःख आदि का भोक्ता है—**'स जीवः सुखदुःखभोक्ता'** (कैवल्य० १३)।

वेदान्ताचार्यों ने जीवों की संख्या अनेक मानी है—**'अनन्ताश्च जीवा अज्ञातसंख्यात्वात्'** (वेदान्तकौस्तुभ) **'यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः** (शां० भा०)।

ईश्वर और जीव में स्वामि-सेवक-सम्बन्ध है। ईश्वर स्वामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा पूर्ण है और जीव सेवक, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा अपूर्ण है। ईश्वर जिस जीव को मुक्त करना चाहता है, उसे शुभ कर्मों में प्रेरित करता है, जिसे नहीं

चाहता है उसे प्रेरित नहीं करता। जीव कर्मों का फल भोगता है और ईश्वर साक्षी मात्र है। मुण्डकोपनिषद् में इस तथ्य का सुन्दर रूपक बाँधा गया है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥'

अर्थात् एक साथ रहने वाले तथा समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। उनमें एक तो स्वादिष्ठ फल (कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है।

विशेष वक्तव्य

हमने इसे छात्रोपयोगी संस्करण बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। यदि इससे छात्रों का कुछ भी उपकार हो सका तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा। अन्त में, उन सुधी जनों के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनकी कृतियों से इसके सम्पादन में मुझे सहायता मिली है और इसके प्रकाशक प्रकाशन केन्द्र के अध्यक्ष श्री पद्मधर मालवीय को हृदय से धन्यवाद देता हूँ, जो संस्कृत-वाङ्मय को राष्ट्रभाषा हिन्दी में लाने के लिए बद्धपरिकर हैं।

तारिणीश झा

॥ श्रीः ॥

वेदान्तसारः

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्

आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये ॥१॥

विद्वन्मनोरञ्जनी—ओं सकलब्रह्मविद्यासम्प्रदायप्रवर्तकाचार्येभ्यो नमः।

सत्यं ज्ञानमनन्तं परिपूर्णानन्दविग्रहं रामम्।
प्रत्यञ्चमनृतविश्वसृष्टिस्थित्यप्ययं वन्दे ॥१॥
वाणीकायमनोभिः श्रीगुरुविद्यागुरून्नमस्कृत्य।
वेदान्तसारटीकां कुर्वे श्रद्धावशाद्यथाबुद्धि ॥२॥

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्याविघ्नपरिसमाप्तिप्रचयगमनशिष्टाचारपरिपालनफलं विशिष्ट-शिष्टाचारानुमितस्मृतिपरिकल्पितश्रुतिबोधितकर्तव्यताकं स्वाभिमतदेवतातत्त्वानुसन्धा-नात्मकं मङ्गलमाचरत्यखण्डेत्यादिश्लोकेन। आत्मानमाश्रय इत्यन्वयः। यद्यपि ग्रन्थ-करणादिकार्यारम्भे गणेशसरस्वत्यादिदेवताभेदं विघ्नविघातविद्यास्फूर्तिप्रदत्वेन प्रसिद्ध-मनुसन्धानं कुर्वन्ति शिष्टास्तथापि 'एष उ ह्येव सर्वे देवा' (बृह० १।४।६) इति श्रुतेरात्मन एव सर्वदेवतात्मकत्वावगमादात्मानुसन्धाने सति सर्वदेवतानुसन्धानं सम्भवतीति मन्यते ग्रन्थकारः। आत्मानं विशुद्धचिद्रूपं त्वम्पदलक्ष्यं तुरीयमाश्रये शास्त्राचार्यप्रसादाभिव्यक्त-मनुसन्दधे। अस्यात्मनस्तत्पदलक्ष्यं परमात्मानन्यत्वं वाक्यार्थं कथयितुं तत्पदार्थं शोधयति अखण्डं सच्चिदानन्दम् इति। 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्रह्म सू० ३।३।११) इति न्यायेन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० २।१।१) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० ३।३।२८) इति श्रुत्योः परस्परैकवाक्यतामभिप्रेत्याखण्डेत्यादिभिरानन्दपदस्य समासः। अखण्डशब्दोऽन-न्तपदपर्यायः। स चाविद्याध्यस्तदेशकालवस्तुभ्यः परमात्मनः परिच्छेदं व्यावर्तयत्येव नञ्पदयोगात्। तदुक्तम् (तैत्ति० वार्तिक)—

'तत्रानन्तोऽनन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम्' इति।

इतराणि तु पदानि स्वार्थापरित्यागेनैव स्वविरोध्यर्थव्यावृत्तं ब्रह्म लक्षयन्ति। तदुक्तम्—

स्वार्थार्पणप्रणाड्या च परिशिष्टौ विशेषणम्' इति।

परिशिष्टौ सत्यज्ञानशब्दावित्यर्थः। अखण्डमपि तदनृतं शून्यं वा स्यादित्यत आह सत् इति। सदनृतशून्यव्यावृत्तं बाधाभावोपलक्षितस्वरूपसत्तात्मकमिति यावत्। ब्रह्मणोऽप्यनृतत्वे निरधिष्ठानारोपप्रसङ्गात्। शून्यस्य ससाक्षिकत्वे तु सर्वशून्यवादा-

नुपपत्तेरसाक्षिकत्वे तदसिद्धे स्वप्रकाशत्वे च ब्रह्मण एव नामान्तरत्वापत्तेर्न ब्रह्मानृतं शून्यं वेत्यर्थः अखण्डं सदपि तत्तमो वज्जडं किं न स्यादित्यत आह **चित्** इति। चिज्ज्ञानं ज्ञप्तिरिति पर्यायः। श्रुतौ (तैत्ति०) ज्ञानं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्याद्गुणत्वे तस्य तदनुपपत्तेः। न च शुक्लो घट इति वत्तस्यादिति वाच्यं निर्धर्मकत्वप्रतिपादकास्थूलादिश्रुतिविरोधात्। किञ्च ज्ञानस्य नित्यत्वेऽग्न्युष्णवत्सवितृप्रकाशवच्च ब्रह्मस्वभावानतिरेकात्। अनागमापायिधर्मस्य धर्मिणः परमार्थतो भिन्नत्वे प्रमाणाभावत् अनित्यत्वे ज्ञानानवस्थाप्रसङ्गात्। कार्यस्य सतो ज्ञानस्यापि कार्यान्तरवत्स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानजन्यत्वात्। ज्ञानोपादानब्रह्मगोचरस्यापि ज्ञानस्य कार्यत्वे तस्यापि पूर्वसमानयोगक्षेमतया नानवस्था। अजन्यत्वे प्रथमे कः प्रद्वेषः। तया च सिद्धा ब्रह्मणो ज्ञानस्वभावता। एतेन जीवात्मनोऽविज्ञानस्वभावता व्याख्याता वेदितव्या। स्वप्राशं चैतद्ब्रह्मैष्टव्यमप्रकाशजडविलक्षणत्वनिर्देशसामर्थ्यात्। 'तदेव ज्योतिषां ज्योतिः' (बृह० ४।४।१६) 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (कठो० ५।१५) इत्यादिश्रुतेः। नन्वेवमखण्डसच्चिद्रूपमपि ब्रह्म न प्रेक्षावत्प्रेक्षागोचरं सुखदुःखाभावतत्साधनानामन्यतमत्वाभावात्। न न तावत् स्वसुखदुःखाभावसाधनं ब्रह्म स्वस्मिन् सुखदुःखयोर्नित्यनिवृत्तत्वात् 'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' इति श्रुतेः (छान्दो०)। न चाप्यन्यगतसुखादिसाधनं ब्रह्म। अन्येषां दृष्टादृष्टसुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोर्लौकिकवैदिकसाधनेभ्य एव सिद्धेः। तस्मान्न सुखादिसाधनं ब्रह्म। नापि दुःखाभावरूपं भावात्मस्वभावताविरोधात्। नापि सुखात्मकं तथात्वे प्रमाणाभावादित्यत आह **आनन्दम्** इति। आनन्दं सुखरूपम्। न च ब्रह्मण आनन्दात्मत्वे प्रमाणाभावः 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० ३।९।२८) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्ति० ३।६।१) 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति (मुण्ड० २।२।७) 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तैत्ति० २।७।१) इत्यादि श्रुतेः प्रमाणत्वात्। न चानन्दब्रह्मणोर्धर्मधर्मिताशङ्काप्यवकाशं लभते श्रुतिस्वारस्यभङ्गप्रसङ्गात्। न च ब्रह्मण ईश्वरस्य सुखित्वं परैरपीष्यते त आनन्दो विद्यतेऽस्मिन्नित्यानन्दं ब्रह्मेति परेषां श्रुतिव्याख्यानमुपहासास्पदमेव। न च ब्रह्मण्यानन्दशब्दो दुःखाभावपरः 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्ति० ३।६।१) इति भावरूपब्रह्मसामनाधिकरण्यनिर्देशविरोधात्। न च प्रियास्पर्शित्वश्रुतिविरोधस्तस्याः (छान्दो० ८।१२।१) श्रुतेर्वैषयिकप्रीतिनिषेधपरत्वादिति भावः। यद्यप्यात्मपदमेवेह शेषिपदं तथापि श्रुत्युपरोधात् पदार्थशोधनार्थतया च ब्रह्मपदमध्याहृत्य विशेष्यं बोद्धव्यम्। एवं सत्यखण्डं सच्चिदानन्दं ब्रह्मात्मानमाश्रय इति ब्रह्मात्मपदयोः सामानाधिकरण्येन तत्त्वम्पदार्थयोरैक्यवाक्यार्थोऽब्रह्मत्वपारोक्ष्यनिवृत्त्या परिपूर्णतया निरूपितः स्यान्नान्यथा। एतेषां च पदानां ब्रह्मपदेन प्रत्येकं प्रथममन्वितानां पश्चात् सामानाधिकरण्येन परस्परमपि सम्बन्धसिद्धिः। 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति' (तैत्ति० संहि० ६।१।७।२) इत्यत्र क्रयवाचिपदान्वितानामरुणादिपदानामिव परस्परान्वयः। न चैकार्थत्वे सत्यादिपदानां पर्यायतापत्तिरयौगपद्यं चेति वाच्यं प्रवृत्तिनिमित्तभेदाद् व्यावर्त्यभेदाच्चोक्तदोषानवतारात्। एवमन्योऽपि वाक्यविचारोपयोगी न्याय ऊहनीयो विस्तरभयान्नेह लिख्यते। एवं विधिमुखेन परिच्छि-

नानृतजडदुःखरूपानात्मतद्धर्मविलक्षणं ब्रह्मेति निरूप्येदानीं 'नेति नेति' (बृह० २।३।६) 'अस्थूलं' (बृह० ३।८।८) 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति० २।४।१) इत्यादि श्रुतिमाश्रित्य निषेधमुखेन सकलनिषेधावधिभूतं सत्यस्य सत्यं ब्रह्मेति दर्शयति **अवाङ्मनसगोचरम्** इति। वाक्च मनश्च वाङ्मनसे तयोर्गोचरो वाङ्मनसगोचरो न वाङ्मनसगोचरोऽवाङ्मनसगोचरस्तदिति विग्रहः। 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषः' (कठ० ६।१२) 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (कठ० ६।१३) इति च काठकश्रुतेः। एवं विधिनिषेधाभ्यां ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणमभिधाय लक्षितं स्वरूपं तटस्थलक्षणेन सम्भावयति **अखिलाधारम्** इति। अखिलस्याकाशादिप्रपञ्चस्याधार आश्रयस्तदिति विग्रहः। आश्रयशब्दः सृष्टिप्रलययोरप्युपलक्षणार्थः। तथा च श्रुतिः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति' इति (तैत्ति० ३।१।१)। ततश्च जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं ब्रह्मेत्युक्तं भवति। अत इदं फलितम्। सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसं ब्रह्म तत्पदलक्ष्यमिति। आत्मपदादेव त्वम्पदार्थशुद्धिः। 'आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति' (बृह० १।४।७) इतिश्रुतावात्मशब्दस्य निर्विशेषप्रत्यक्चैतन्यमात्रनिष्ठतया निर्धारितत्वात्। तथा च ब्रह्मात्मपदयोः सामानाधिकरण्यादैक्यं वाक्यार्थसिद्धिरित्युक्तं तदेव वाक्यार्थभूतमात्मानमाश्रये। किमर्थम्। **अभीष्टसिद्धये**। अभीष्टं शास्त्रार्थप्रतिपत्त्यन्यथाप्रतिपत्तिविप्रतिपत्तिनिरासलक्षणं यथा शास्त्रमर्थसंग्रहसामर्थ्यलक्षणं च। तस्य सिद्धिः सम्पत्तिस्तस्यै तदर्थमित्यर्थः ॥१॥

अन्वय—(अहम्) अभीष्टसिद्धये अखण्डं सच्चिदानन्दम् अवाङ्मनसगोचरम् अखिलाधारम् आत्मानम् आश्रये ॥ १॥

अनुवाद—(मैं सदानन्द) अभीष्ट-सिद्धि के लिए खण्डरहित, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप, वाणी और मन की पहुँच से पर तथा सब के आधारभूत परमात्मा का आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥१॥

टिप्पणी—(१) **वेदान्तसारः**—वेद के अन्तिम भाग उपनिषदों का ज्ञानकाण्ड जिस शास्त्र में वर्णित है. उसे वेदान्त कहते हैं। और वेदान्त के सिद्धान्तों को संक्षेप में प्रस्तुत करने वाला 'वेदान्तसार' है। (२) **अभीष्टसिद्धये**—अभीष्ट (वांछित फल) की प्राप्ति के लिए। यहाँ ग्रन्थकार का अभीष्ट है ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति या आत्यन्तिकदुःख निवृत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति (३) **अखण्डम्**—'अखण्डम्' इत्यादि श्लोक ग्रन्थकार का मंगलाचरण है। क्योंकि 'ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलमाचरेत्'—यह शिष्टाचार है। 'अखण्ड' का अर्थ होता है सम्पूर्ण (समूचा) अर्थात् स्वगत, सजातीय तथा विजातीय भेदभाव से रहित। **स्वगत**—जैसे वृक्ष का अपने फल, पत्र आदि से भेद स्वगत भेद है, **सजातीय**—जैसे एक वृक्ष का दूसरे वृक्ष से भेद सजातीय भेद है, और **विजातीय**—जैसे वृक्ष का पत्थर से भेद विजातीय भेद है। परमात्मा या ब्रह्म इन तीनों प्रकार के भेदों से रहित है। अतएव उसे अखण्ड = अनन्त कहा जाता है।

(४) **सच्चिदानन्दम्**—सत्, चित् और आनन्द स्वरूप। सत् का अर्थ है—सदा

वर्तमान या सत्य । ब्रह्म का पहला विशेषण 'अखण्डम्' आया है। अखण्ड शून्य और अनृत भी हो सकता है, इसलिए उसका निराकरण करने के लिए सत् विशेषण दिया गया है। किन्तु इस पर भी ब्रह्म के जड होने की शंका हो सकती है, उसके निवारण के लिए 'चित्' विशेषण दिया गया है। चित् का अर्थ होता है-चैतन्य या ज्ञान। इस पर भी ब्रह्म के आनन्द से युक्त होने की शंका हो सकती है। उसके निवारण के लिए 'आनन्द' विशेषण दिया गया है। अर्थात् ब्रह्म आनन्द से युक्त नहीं, बल्कि आनन्द रूप ही है। यहाँ तक ब्रह्म का स्वरूप लक्षण प्रतिपादित किया गया है। लक्षण दो प्रकार का होता है-(१) **स्वरूप लक्षण**-(२) **तटस्थ लक्षण**-जैसे पृथ्वी का 'पृथ्वीत्व से युक्त' यह स्वरूप लक्षण है। इस प्रकार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। दूसरा तटस्थ लक्षण लक्ष्य का दूसरी वस्तुओं से व्यावर्तन (भेद) करने वाला होता है। जैसे 'सास्नादिमान् प्राणी गौ है' यह कहने से गाय के सजातीय जो भैंस आदि (चतुष्पद) हैं उनकी व्यावृत्ति (व्यवच्छेद भेद) हो जाती है; क्योंकि उनके सास्ना (गलकम्बल) आदि नहीं होती। यही सास्ना न होने से विजातीय मनुष्य, वृक्ष आदि की भी व्यावृत्ति हो जाती है। **अखिलाधारम्**-यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। अखिलाधारत्व ब्रह्म के सिवा अन्य किसमें है?

(५) **अवाङ्मनसगोचरम्**-वाणी और मन से परे अर्थात् वाणी जिसका वर्णन नहीं कर सकती और मन जिसके विषय में कुछ सोच नहीं सकता ऐसे (ब्रह्म का)। वाक् च मनस्च इति वाङ्मनसी (द्वन्द्वसमास), तयोः गोचरः (षष्ठी तत्पुरुष), न वाङ्मनसगोचरः (नञ्तत्पुरुष), तम्। इस विशेषण से ब्रह्म के निर्गुणत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस पर शंका होती है कि ऐसे का आश्रय कैसे लिया जाएगा। इसके समाधान में एक और विशेषण देते हैं-(६) **अखिलाधारम्**-सबके आधार अर्थात् जो सम्पूर्ण स्थावर जंगम रूप प्रपंच का आधार है ऐसे (ब्रह्म का)। इस विशेषण से ब्रह्म का सगुण रूप प्रतिपादित किया है। सगुण रूप का आश्रय लिया ही जा सकता है। **आत्मानम्**-ब्रह्म या परमात्मा का। **आश्रये**-आश्रय लेता हूँ अर्थात् शरणागत होता हूँ ॥१॥

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः ।
गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति ॥२॥

वि० म०-एवं शास्त्रप्रतिपाद्यपरदेवतातत्त्वानुस्मरणलक्षणं मङ्गलं विधायेदानीं 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' इत्यादिशास्त्राद्देवताभक्तिवद्गुरुभक्तेरपि विद्याङ्गत्वप्रतीतेः 'देवमिवाचार्यमुपासीत' 'इत्यादि स्मृतेश्च (आपस्त० सू० १।६।१३) गुर्वाराधनोक्तिपूर्वकं स्वचिकीर्षितं प्रतिजानीते **अर्थत** इति श्लोकेन। वेदान्तो वक्ष्यमाणलक्षणस्तस्य सारो मथितार्थस्तं वक्ष्ये। तच्च **यथामति** स्वमत्यनुसारेण। अनन्तशाखाप्रवर्तितस्यातिगम्भीरार्थस्य वेदान्तस्यार्वाग्बुद्धिभिरपरिच्छेदात्। तदुक्तमभियुक्तैः-

गुरुचरणसरोजसन्निधाना-
दपि वयमस्य गुणैकलेशभाजः ।
अपि महति जलार्णवे निमग्नाः
सलिलमुपाददते मितं हि मीनाः ॥' इति (संक्षेपशारीरके)

एतच्च गर्वपरिहारोक्तिवचनं न पुनर्वादिभयनिमित्तं यथाशास्त्रमर्थसङ्ग्रहादित्यर्थः । किं कृत्वा । **गुरूनाराध्य** । भक्तिश्रद्धातिशयस्तुतिनमस्कारादिना देवमिव पूजयित्वा । गुरूनित्येकस्मिन् बहुवचनं पूजार्थम् । किं नामानो गुरव इत्यपेक्षायां स्वस्य साम्प्रदायिकत्वज्ञापनाय तान्नामतो निर्दिशति **अद्वयानन्दानिति** । नाम्नो डित्थादिवत्संज्ञामात्रत्वं व्यावर्तयति **अर्थत** इति । अपि शब्दः शब्दार्थयोः समुच्चयार्थः । न केवलं शब्दतः किन्त्वर्थतोऽपीति तत्र हेतुः **अतीतद्वैतभानत** इति । अतीतं द्वैतं यस्मात्तदतीतद्वैतं प्रत्यगात्मतत्त्वं तस्य भानं साक्षात्कारस्तस्मादतीतद्वैतभानतः । अतीतद्वैतभावत इति पाठे तत्त्वज्ञानविध्वस्तनिखिलभेदब्रह्मात्मत्वादित्यर्थः ॥२॥

अन्वय--अतीतद्वैतभानतः अर्थतः अपि अद्वयानन्दान् गुरून् आराध्य यथामति वेदान्तसारं वक्ष्ये ॥२॥

अनुवाद—द्वैतभावना से परे हो जाने के कारण अर्थ (की दृष्टि) से भी अद्वयानन्द नामक गुरु की वंदना करके (मैं सदानन्द) अपनी बुद्धि के अनुसार वेदान्त-सार (अर्थात् वेदान्तसिद्धान्त का तत्त्व) कहूँगा ॥२॥

टिप्पणी—(१) **अतीतद्वैतभानतः**--द्वैत की भावना के समाप्त हो चुकने के कारण । द्वैतस्य भानं द्वैतभानम्, अतीतं द्वैतभानम् इति अतीतद्वैतभानम् तस्मात् अतीतद्वैतभानतः । अथवा प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार हो जाने के कारण । अतीतं द्वैतं यस्मात् तत् अतीतद्वैतम् (प्रत्यगात्मतत्त्वम्) तस्य भानं साक्षात्कारः तस्मात् । (२) **अर्थतः अपि**-अर्थ से भी । तात्पर्य है यह कि डित्थ, कपित्थ आदि नामों की तरह मेरे गुरु का नाम अद्वयानन्द निरर्थक नहीं था, बल्कि सार्थक था, क्योंकि अद्वैतभावना के दृढ़ हो जाने से अद्वयानन्द वस्तुतः अद्वयानन्द = अखण्ड आनन्द स्वरूप हो गये थे । (३) **अद्वयानन्दान् गुरून्**--यहाँ बहुवचन का प्रयोग आदर-सूचनार्थ है । क्योंकि गुरु और ईश्वर के लिए एकवचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए--'एकवचनं न युञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे' । **आराध्य**--आराधना (ध्यान या वंदना) करके । यथामति--बुद्धि के अनुसार । मतिम् अनतिक्रम्य इति यथामति (अव्ययीभावसमास) ॥२॥

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च ।

वि० म०--ब्रह्मात्मप्रतिपत्तिपरेषु श्रुतिसूत्रेषु विद्वन्निर्मितनिबन्धेषु चाविशेषेण वेदान्तशब्दस्य लोके प्रयोगदर्शनात्सर्वनात्सर्वत्र मुख्यवृत्तितः प्रतीतिं वारयन्मुख्यगौणभेदेन वेदान्तशब्दं व्युत्पादयति **वेदान्तो नाम** इत्यादिना उपनिषच्छब्दो ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारविषयः । उपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य षद्लृ विशरणगत्यवसादनेष्वित्यस्य धातोरुपनिषदिति रूपम् । तत्रोपशब्दः सामीप्यमाचष्टे तच्च सङ्कोचकाभावात् सर्वान्तरे

प्रत्यगात्मनि पर्यवस्यति निशब्दो निश्चयवचनः । सोऽपि तत्त्वमेव निश्चिनोति तन्न कर्तृवाच्युपशब्दसामानाधिकरण्यात् । तस्माद्ब्रह्मविद्या स्वसंशीलिनां संसारसारतामतिं सादयति विषादयति शिथिलयतीति वा परमश्रेयोरूपं प्रत्यगात्मानं सादयति गमयतीति वा दुःखजन्मप्रवृत्त्यादिमूलाज्ञानं सादयत्युन्मूलयतीति वोपनिषत्पदवाच्या । सैव प्रमाणम् । तस्याः प्रमारूपायाः करणभूतः सर्वशाखासूक्तभागेषु पठ्यमानो ग्रन्थराशिरप्युपचारात प्रमाणमित्युच्यते । तथा चोपनिषदः प्रमाणं प्रमाकरणनुपनिषत्प्रमाणं वेदान्त इत्यर्थः । **तदुपकारीणि** वेदान्तार्थविचारानुकूलानीति यावत् । तदनुकूलत्वं वेदान्तवाक्यप्रमेयासम्भावनापोहद्वारा न तु प्रमित्युत्पत्तौ तत्फले वा साक्षाद्विचारशास्त्रस्याङ्गभावस्तथा सति वेदान्तवाक्यानां सापेक्षताप्रसङ्गात् । तदुक्तमभियुक्तैः—

'स्वाध्यायवन्न करणं घटते विचारो
नाप्यङ्गमस्य परमात्मधियः प्रसूतौ ।
सापेक्षतापतति वेदगिरस्तथात्वे
ब्रह्मात्मनः प्रमितिजन्मनि तन्न युक्तम्' ॥ इति (सं० शा०)

शरीरमेव शरीरकं तत्र भवो जीवः शारीरकः स सूत्र्यते याथातथ्येन निरूप्यते यैस्तानि शारीरकसूत्राणि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र १।१।१) इत्यादीनि । यद्वा शारीरकस्य सूत्राणि तद्याथात्म्यवादिवेदान्तार्थसङ्ग्रहवाक्यानि । आदिशब्दो भाष्यादिसंग्रहार्थः । चशब्दो वेदान्तशब्दानुषङ्गार्थः तथा च वेदानामन्तोऽवसानभागो वेदान्त इति व्युत्पत्तियोगान्मुख्यो वेदान्तशब्दो वेदभागभेदेषु शारीरकादौ तूपचरित इति व्युत्पादितः ।

अनुवाद—वेदान्त उस शास्त्र का नाम है, जिसमें उपनिषदों (के वाक्यों) को प्रमाण माना गया है और उसके उपकारक (पोषक) शारीरकसूत्र (ब्रह्मसूत्र) आदि भी वेदान्त हैं ।

टिप्पणी (१) **उपनिषत्प्रमाणाम्** –उपनिषदों को प्रमाण मानने वाला शास्त्र । उपनिषदः प्रमाणं यत्र तत् (बहुव्रीहि) । आपदेव ने इसका अर्थ किया है—आत्मज्ञान का कारण — 'उपनिषच्छब्देन आत्मज्ञानमुच्यते । तस्य प्रमाणं कारणमित्यर्थः । (२) **शारीरकसूत्रादीनि** — बादरायण-रचित ब्रह्मसूत्र को शारीरकसूत्र कहते हैं । वह है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि । इसकी व्युत्पत्ति है—शरीरमेव शरीरकम् शरीर+कन्, तत्र भवो जीवः शारीरकः शारीरक+अण् । शारीरकः सूत्र्यते याथातथ्येन निरूप्यते यैः तानि शारीरकसूत्राणि, तानि आदौ येषां तानि शारीरकसूत्रादीनि । यहाँ आदि पद से श्रीमद्भगवद्गीता आदि आध्यात्मिक ग्रन्थ लिये गये हैं ।

अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात् तदीयैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न ते पृथगालोचनीयाः ।

वि० म०—ननु किं पुनरस्य ग्रन्थस्यारम्भे निमित्तम् । न खलु निर्निमित्ता प्रेक्षावत्प्रवृत्तिरिति चेत्को भावः । निमित्तमात्राचेय इति चेन्नअशनायाद्यनेकोर्मिमालाकुल-

समुद्भूतक्षोभहतविवेकविज्ञानपाथसि दृढतरकामक्रोधाद्युत्तुङ्गशैलजालविषमे सुतदुहितृ-कलत्रबान्धवाद्यनेकमकरनक्रचक्राकुले नरमृगपशुपक्षिदेवादिस्थानभोगफेनबुद्बुदे संसारसागरेऽनवरतमध ऊर्ध्वं तिर्यग्वा मज्जनोन्मज्जनादिविवशानतिविततगम्भीरार्थानेकशाखवेदान्तविचारमहाद्रुमावलम्बनासमर्थान् दुःखिनो लोकानालोक्य सञ्जातकरुणाया निमित्तत्वोपपत्तेः। अथ निमित्तविशेषाच्चेपश्चेत्तत्राह अस्य इति।

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥
(पारा० उपपु० १८।२१।२२)

इति हि प्रकरणलक्षणं वदन्ति। तथा च यच्छास्त्रैकदेशसम्बद्धं यत्प्रकरणं तत्तच्छास्त्रीयैरेवानुबन्धैरनुबन्धवद्युक्तम्। अन्यथा शास्त्रप्रकरणयोर्भिन्नविषयादिमत्त्वेन शास्त्रासम्बद्धत्वप्रसङ्गादसम्बद्धप्रलपितमिदमापद्येत। अतोऽस्य ग्रन्थस्य वेदान्तशास्त्रीयप्रकरणत्वाद्वेदान्तशास्त्रसिद्धैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न तेऽनुबन्धाः पृथगालोचनीया इत्यर्थः।

अनुवाद—यह (वेदान्तसार ग्रन्थ) वेदान्त का ही प्रकरण है, इसलिए उसी (वेदान्त) के अनुबन्धों से इसकी अनुबन्धवत्ता सिद्ध हो जाने के कारण अलग से उन्हें बताना आवश्यक नहीं है (अर्थात् वेदान्त के जो चार अनुबन्ध हैं, वे ही अनुबन्ध वेदान्तसार के भी हैं, अतः वेदान्त के ही चार अनुबन्ध यहाँ बताये जा रहे हैं)।

टिप्पणी—(१) **प्रकरण**—प्रकरण एक विशेष प्रकार का ग्रन्थ होता है, जिसमें शास्त्र के समस्त प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन नहीं किया जाता, केवल कतिपय विषयों (एक देश) का प्रतिपादन किया जाता है—शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्। आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥' वेदान्तसार में वेदान्तदर्शन के मु[illegible]-मुख्य विषयों का विवेचन किया गया है, अतः यह एक प्रकरण ग्रन्थ है।

(२) **अनुबन्ध**—जिनका ज्ञान होने से किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है, वे अनुबन्ध कहलाते हैं 'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्'। वे अनुबन्ध चार हैं—अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन। अर्थात् (१) इस शास्त्र को जानने का अधिकारी कौन है, (२) इसका विषय क्या है, (३) उस विषय का प्रस्तुत ग्रन्थ से क्या सम्बन्ध है, (४) इस शास्त्र का प्रयोजन क्या है। इन चारों प्रश्नों के प्रत्येक उत्तर को अनुबन्ध कहते हैं और चारों को अनुबन्ध-चतुष्टय कहते हैं। जब तक कोई यह न समझ ले कि यह ग्रन्थ का विषय है, इसको मैं पढ़ सकता हूँ कि नहीं, इसके पढ़ने से मुझे क्या लाभ होगा, तब तक वह उसके पढ़ने में प्रवृत्त नहीं होगा। इसीलिए कहा गया है—'ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः'॥ इसी धारणा के अनुसार संस्कृत वाङ्मय में ग्रन्थारम्भ में अनुबन्धचतुष्टय के निरूपण की परम्परा प्रचलित है। वस्तुतः वेदान्तसार एक प्रकरण ग्रन्थ है। अतः इसका भी अधिकारी आदि वही है, जो वेदान्तशास्त्र का है। वेदान्तशास्त्र के अधिकारी आदि का आगे निरूपण किया जा रहा है।

१. अनुबन्धचतुष्टयम्

तत्र अनुबन्धो नाम अधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि ।

वि० म०-ननु महाविषयादेरिह शास्त्रीयत्वेऽप्यवान्तरविषयादेः पृथगालोचनमुचितमितरथा शास्त्रं परित्यज्य प्रेक्षावतोऽत्र प्रवृत्त्ययोगादिति चेद्वादप्रकरणत्वेनैव सारग्रहणेच्छुकान्तराधिकारी । सगुणनिर्गुणरूपविषयभेदं परित्यज्य निर्गुणसारमात्रमिह विषयः । तन्मात्रावधारणमवान्तरप्रयोजनम् । सम्बन्धोऽपि विषयानुरूप इति भावः । ननु शास्त्रीयो ऽनुबन्धः शास्त्रविद्भिरेव विज्ञायते न व्युत्पित्सुभिस्तत्कथमिह तेषां शास्त्रीयविषयाद्यनभिज्ञानां प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य शास्त्रीयमेवानुबन्धं संक्षेपतो व्युत्पादयितुमुपक्रमते **तत्रानुबन्धो नाम** इत्यादिना । तत्र वेदान्तशास्त्रे स्वार्थप्रतिपत्तारमनाश्रित्य शास्त्रस्य प्रवृत्त्ययोगादादावधिकार्यनुबन्धापेक्षा । तस्य च विषयबोधमन्तरेणाप्रवृत्तेर्विषयस्य तदानन्तर्यम् । विषयस्य च शक्यप्रतिपाद्यत्वसिद्धये सम्बन्धस्य विषयानन्तर्यम् । प्रयोजनस्य चरमत्वं प्रसिद्धमित्युद्देशपाठक्रमो विवक्षितः । तथा च शारीरकसूत्रम् 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति ।

अनुवाद—वहाँ (वेदान्तशास्त्र में) अनुबन्ध है—अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन ।

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदांगत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता ।

वि० म०—तत्र यथोद्देशक्रममधिकारिणं निरूपयति **अधिकारी तु** इति । धर्मजिज्ञासाधिकारिणोऽस्य वैलक्षण्यसूचनार्थस्तुशब्दः । प्रमाताधिकारीत्यन्वयः लौकिकवैदिकव्यवहारेष्वभ्रान्तो जीवः प्रमातेह विवक्षितो जीवमात्रस्य पक्षे भ्रमसम्भवेन शास्त्रार्थप्रतिपत्तृत्वायोगात् । तस्य तु शब्दसूचितं विशेषमाह साधनचतुष्टयसम्पन्न इति । वक्ष्यमाणसाधनचतुष्टयविशिष्ट इत्यर्थः । अयं भावः । न तावद्वेदाध्ययनं ब्रह्मजिज्ञासाधिकारहेतुस्तस्य धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः साधारणत्वात्तन्मात्रेणेह नियमेन प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नापि धर्मविचारः । प्रागपि धर्मविचारादधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः । नापि धर्मानुष्ठानमिह जिज्ञासाहेतुर्विनापि धर्मानुष्ठानं ब्रह्मचर्यादेव विरक्तस्य ब्रह्मजिज्ञासादर्शनात् । श्रुतिश्च भवति विविदिषोः संन्यासविधायिनी 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जाबाल० ४) इत्यादिका ।

ननु 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष व अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वासि' इति श्रुतेः (तैत्ति० संहि० ६।३।१०।५) ।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानः पतत्यधः ॥ (मनु० ६।३५)

इति स्मृतेश्चर्णत्रयापाकरणमन्तरेण मोक्षशास्त्रविचारप्रवृत्त्ययुक्ततया गम्यमानत्वात्कथं धर्ममनुष्ठाय संन्यासपूर्वकब्रह्मविचारे प्रवृत्तिरिति चेत् । उच्यते । श्रुतिस्तावत् 'हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः' (तैत्ति० सं० ६।३।१०।४) इति पशववदानत्रयविधिमुपक्रम्य 'तदवदानैरेवावदयते तदवदानानामवदानत्वम्' (तैत्ति० सं० ६।१।१०।५) इत्यवदाननिर्वचनेनोपसंहारादवदानत्रयविध्यर्थवादत्वान्न स्वार्थपरा । अतः सा 'ब्रह्मचर्यादेव' इति श्रुत्यानन्यपरया बाध्यते । यदि ब्रह्मचर्यादिभिरपाकरणीयमृणत्रयमपि 'अवदानैरेवावदयत' इत्यवदानश्रुतौ ब्रह्मचर्यादेर्ऋणत्रयापाकरणहेतुत्ववचनं स्वार्थपरमेवेति मतं तथापि जातमात्रस्यर्णत्रयसम्बन्धे प्रमाणाभावादधिकारी जायमानो गृहस्थो वा जायमान इति वा व्याख्यानमुचितम् । स्मृतिस्त्वविरक्तविषयतया व्याख्येया । एतेन 'यज्ञायुधी यजमानः' (शतपथ० १२।५।२।८) 'जरयावास्मान्मुच्येरन्', 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयत' (तैत्ति० सं० १।५।२।१) इत्यादिश्रुतयः 'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्य' (गौत० सं० ३।३६) इत्यादि स्मृतयश्च व्याख्याता वेदितव्याः । 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जाबाल० ४) 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' (जाबाल०) 'अथ पुनरव्रती वा व्रती वा' (जाबाल०) 'किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे', 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मेति' (बृह० ४।४।२२) 'याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज' (बृह० ४।५।२५--माध्यन्दिन) 'ये प्रजामीषिरे ते श्मशानानि भेजिरे । ये प्रजां नेषिरे तेऽमृतत्वं हि भेजिरे' इत्यादिश्रुतिस्मृत्यविरोधात् । तस्मान्न धर्मानुष्ठानं ब्रह्मजिज्ञासाहेतुः । अतो ब्रह्मजिज्ञासा जायमाना यस्मिन् सत्येव (साधने) नियमेन जायते यस्मिन्नसति नैव जायते तदेव तस्याः साधनमेषितव्यम् । तच्च वक्ष्यमाणं साधनचतुष्टयमेवेति । कस्मात्पुनः साधनसम्पन्नस्तत्राह **नितान्तम्** इति । नितान्तमत्यन्तं निर्मलं शुद्धं स्वान्तमन्तःकरणं यस्य स तथा । कुतः स्वान्तस्य नैर्मल्यं प्रतिबन्धकरागादिवासनानिवृत्त्येत्याह **निर्गतम्** इति । रागादिवासनारूपकल्मषनिवृत्तिरपि कुतस्तत्राह **नित्यम्** इति । काम्यकर्माभिरतस्यानुष्ठीयमानमपि नित्यादि न साक्षात्कल्मषनिवृत्तिहेतुः कामवासनया शुद्धिप्रतिबन्धसम्भवात्तथा निषिद्धावर्जने पापेन प्रतिबन्धादित्यभिप्रेत्य नित्यानुष्ठानं विशिनष्टि **काम्यनिषिद्धवर्जनपुरः सरम्** इति । एवं नित्याद्यनुष्ठानस्य शुद्धेश्चैकभविकत्वनियमं व्यावर्तयति **अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा** इति ।

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।' (गीता ५।४५)
'न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।' (गीता ५।४)

इत्यादिस्मृतेर्जन्मान्तरानुष्ठितस्यापि जन्मान्तरोपकारकत्वसम्भवादिति भावः । एवं काम्यनिषिद्धवर्जनपुरः सरमिह जन्मनि जन्मान्तरे वानुष्ठितनित्यादिक्षपितकल्मषस्य विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पत्तौ कारणमाह **आपातत** इति । आपाततो विचारेणेदमित्थमेवेति पर्यवधारणमन्तरेणाधिगतोऽखिलो वेदार्थो येन स तथा । वेदशब्दो वेदान्तविषयः

वेदार्थज्ञाने हेतुमाह विधिवत् इति । 'ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदो निष्कारणोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति वचनान्नित्याध्ययनविध्युपस्थापितवेदान्तवचोभिर्निरुक्तव्याकरणाद्यङ्गोपकरणैरनवबुद्धतात्पर्यलिङ्गैरधिगताखिलवेदान्तार्थ इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । वस्तुतश्चित्सदानन्दब्रह्मस्वभावोऽप्यात्माऽनाद्यनिर्वाच्याविद्यासम्बन्धलब्धजीवभावोऽविद्याकामकर्मवशं गतः काम्यनिषिद्धाद्यनवरतमाचरंस्तत्फलभूतस्वर्गनरकौ भुञ्जानस्तद्भोगवासनावासितदनुरूपं पुनः कर्म पुनः फलमित्येवं घटीयन्त्रवत्कुलालचक्रवद्वोर्ध्वाधस्तिर्यग्भ्रमणमविश्रममनुभवन् हृष्टः कृतार्थो मूढो दुःखी वेत्यात्मानं मृषैव मन्यते । स पुनः—

एकः काम्योऽपरो नित्यस्तथा नैमित्तिकः परः ।
प्राधान्येन फलं शुद्धिरार्थिकी काम्यकर्मणः ।।
प्राधान्येन मनः शुद्धिर्नित्यस्य फलमार्थिकम् ।
केवलं प्रत्यवायस्य निवृत्तिरितरस्य तु' ।। (सूतसंहिता पृ० ३४५)

इत्यादिपुराणवचनादतीतानेकजन्मसुकृतयादृच्छिकपुण्यपुञ्जपरिपाकोदयवशात्काम्यफलेषु जातदोषबुद्धिराध्यात्मिकादिदुःखत्रयं च निषिद्धाचरणफलमाकलयन् काम्यनिषिद्धे परित्यजन्नीश्वरार्पणबुद्ध्यानुष्ठितनित्यादिक्षपितकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तोऽधीतसाङ्गवेदार्थापातालोचनया लब्धविवेकादिसाधनसम्पन्नः स्वात्मयाथात्म्यजिज्ञासुर्वेदान्ताधिकारीति ।

अनुवाद—(वेदान्तशास्त्र का) अधिकारी वही हो सकता है, जिसने इस जन्म में या जन्मान्तर में विधिपूर्वक वेदों और वेदाङ्गों का अध्ययन करके सम्पूर्ण वेदों का अर्थ समझ लिया हो, जिसका अन्तःकरण काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का त्याग करके नित्य नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना का अनुष्ठान करने के कारण समस्त पापों से रहित होकर निर्मल हो गया हो और जो (आगे बताये जाने वाले) चार प्रकार के साधनों से सम्पन्न हो। ऐसा ही व्यक्ति (वेदान्तविद्या का) प्रमाता = अधिकारी है।

टिप्पणी—(१) **विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेन**—विधिपूर्वक वेदों (ऋक्, यजुस्, साम और अथर्व) एवम् वेदाङ्गों (शिक्षा = उच्चारणज्ञान, कल्प = यज्ञविद्या, निरुक्त (शब्द-व्युत्पत्ति), ज्योतिष्, छन्द और व्याकरण) को पढ़ चुकने के कारण। वेदाश्च वेदाङ्गानि च इति वेदवेदाङ्गानि (द्वन्द्वसमास), विधिवत् अधीतानि (सुप्सुपासमास) विधिवदधीतानि वेदवेदाङ्गानि येन स विधिवदधीतवेदवेदाङ्गः (बहुव्रीहि), तस्य भावः इति विधिवदधीतवेदवेदाङ्ग + त्व, तेन (२) **आपाततोऽधिगताखिलवेदार्थः**—सम्पूर्ण वेदों का अर्थ जिसे तत्क्षण लग जाय ऐसा। आपाततः अधिगतः (सुप्सुपासमास), आपततोऽधिगतः अखिलवेदार्थः येन सः (बहुव्रीहि)।

(३) **अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा**—इस जन्म में या दूसरे जन्म में। 'दूसरे जन्म में' यह इसलिये कहा गया है कि कुछ लोग वेदों का अध्ययन किये बिना भी तत्त्वदर्शी हो गये हैं। जैसे महात्मा विदुर, जो शूद्रा दासी के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण वेदाध्ययन से रहित होने पर भी तत्त्वज्ञानी थे। अतएव मानना पड़ेगा कि दूसरे जन्म में उन्होंने वेदाध्ययन किया होगा।

(४) **काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरम्**--किसी फल की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले कर्मों को काम्य कहते हैं। शास्त्रों में जिन कर्मों के करने का निषेध है, वे निषिद्ध कर्म हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों को त्यागने के साथ। (५) **नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन**--नित्य कर्म वे हैं, जिनके करने से पुण्य न हो, किन्तु न करने से पाप हो। नैमित्तिक कर्म वे हैं, जो किसी कारणवश किये जाते हैं तथा पुण्यप्रद होते हैं। पापों के क्षालन के लिये जो कर्म किये जाते हैं वे प्रायश्चित हैं-- 'प्रायः पापं विजानीयात् चित्तं तस्य विशोधनम्'। चित्त की एकाग्रता के लिए जो कर्म किये जाते हैं उन्हें उपासना कहते हैं। इस सभी कर्मों के अनुष्ठान=सम्पादन से।

(६) **निर्गतनिखिलकल्मषतया**--समस्त पापों या रागद्वेष आदि वासनात्मक कल्मषों के निकल जाने से। निखिलानि कल्मषाणि (कर्मधारय), निर्गतानि निखिल-कल्मषाणि यस्य सः (बहुव्रीहि), तस्य भावः तत्ता, तया। (७) **नितान्तनिर्मलस्वान्तः**--जिसका हृदय अत्यन्त स्वच्छ हो गया है। नितान्तं निर्मलम् (कर्मधारय), नितान्त-निर्मलं स्वान्तं यस्य सः (बहुव्रीहि)। (८) **साधनचतुष्टयसम्पन्नः**--(आगे कहे जाने वाले नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि) चार प्रकार के साधनों से सम्पन्न। साधनानां चतुष्टय (षष्ठीतत्पुरुष), तेन सम्पन्नः (तृतीयातत्०)। (९) **प्रमाता**--लौकिक और वैदिक व्यवहारों में भ्रमरहित व्यक्ति को प्रमाता कहते हैं।

काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि।

वि० म०--काम्यादिपदार्थान् कथयति **काम्यानि** इत्यादिना। फलोद्देशेन विधीयमानानि कर्माणि काम्यानि। न च 'विश्वजिता यजेत्' इत्यादावव्याप्तिस्तत्रापि 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' (मीमांसा ४/३।१५) ज्योतिष्टोमशब्द ऐकाहिकविषयः। आदिशब्दोऽहीनसत्रसंग्रहार्थः।

अनुवाद--स्वर्ग आदि इष्ट पदार्थों की प्राप्ति कराने वाले कर्म काम्य कहलाते हैं, जैसे ज्योतिष्टोम आदि।

टिप्पणी--(१) **काम्यानि**-फल की कामना से किये जाने वाले कर्म काम्य हैं। (२) **ज्योतिष्टोमादीनि**-'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस वैदिक आदेश के अनुसार स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा से ज्योतिष्टोम यज्ञ किया जाता है। इसी तरह अहीन यज्ञ भी स्वर्गप्राप्त्यर्थ किया जाता है। यहाँ आदि पद से यही विवक्षित है। यद्यपि ये यज्ञ पुण्य देने वाले अच्छे कर्म हैं तो भी ये ब्रह्मज्ञान के साधकों के लिए त्याज्य हैं, क्योंकि इनके करने पर इनके शुभ फल भोगने के लिए शरीर-धारण करना पड़ेगा और इस प्रकार जन्म-चक्र चलता रहेगा। फिर ब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्ष कैसे होगा। अतएव ये काम्य कर्म त्याज्य हैं।

निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि।

वि० म०--अभावगतेष्टसाधनतानिषेधकनञ्पदयोगिवाक्यगम्यानि निषिद्धानि

लिङाद्यनुषक्तनञ्योगिवाक्यागम्यानि वा । नरकादीत्यादिपदादैहिकदुःखग्रहः ब्राह्मणहननादीत्यादिदात्सुरापानादिग्रहः । प्रत्यवायशब्देनागामिदुःखमुच्यते ।

अनुवाद--नरक आदि अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति कराने वाले कर्म निषिद्ध कहलाते हैं, जैसे ब्रह्महत्या आदि ।

टिप्पणी--ब्राह्मणहननादीनि--ब्रह्महत्या आदि । यहाँ आदि पद से मद्यपान आदि समझने चाहिये । क्योंकि धर्मशास्त्रों में 'ब्रह्महत्या-सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः' इत्यादि को महापातक माना गया है। इनसे नरक की प्राप्ति होती है, अतएव ये निषिद्ध हैं ।

नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि ।

वि० म०--येषामकरणे विज्ञायमाने तत्साध्यते ज्ञाप्यते तानि नित्यानि इत्यर्थः । अकरणे प्रत्यवायलक्षणानि नित्यानीति यावत् । निर्निमित्तमुपात्तदुरितक्षयार्थानि नित्यानीति नित्यकर्मलक्षणं न त्वकरणे प्रत्यवायोत्पादकानि नित्यानीति । ननु--

'अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति ।। (मनु० ११।४४)

इति स्मृतौ शतृप्रत्ययादकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्वमवगम्यते तत्कथमकरणस्य प्रत्यवायानुत्पादकत्वमिति चेन्न 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (३।२।१२६) इति पाणिनिना शतुर्लक्षणार्थेऽपि विधानात् । अतएव नित्याद्यनुष्ठानकाले निद्रालस्यादिपरवशं नरमालोक्य शिष्टैर्लक्ष्यते यद्यस्य यथावन्नित्यनैमित्तकानुष्ठानमभविष्यत्तदा सञ्चितदुरितक्षयोऽभविष्यन्नचायं विहितमकार्षीदतः प्रत्यवायी भविष्यतीति । यथा च 'चिचिकित्सञ्छ्रोत्रिय' इति वच्छतृप्रत्ययस्यान्यथाप्युपपत्तेर्न तद्बलादभावस्य हेतुत्वाशङ्का युक्ता । तदुक्तम्--

नित्या नाम क्रिया यस्माल्लक्ष्यादित्वैव सत्वरा ।
प्रत्यवायक्रियां तस्माल्लक्षणार्थे शता भवेत् ।। इति
(तैत्ति० भाष्य वा० १।२१)

ननु हेत्वर्थेऽपि शतुर्विधानस्य तुल्यत्वे कथं लक्षणार्थावगम इति चेदभावाद्भावोत्पत्तेरनुपपत्तेरिति वदामः । भावरूपस्य हि कार्यस्य भावरूपं कारणमिति प्रत्यक्षादिभिरवधारितं तेन शतृप्रत्ययादभावस्य भावहेतुताभ्युपगमो विरुध्यते । नन्वेवं सति कथं तवाप्यकरणस्य प्रत्यवायलक्षकत्वसिद्धिरिति चेन्नैष दोषः नास्माभिरकरणस्य स्वरूपेण प्रत्यवायलक्षकत्वमिष्यते किन्तु तज्ज्ञानस्य । न च तस्यैव प्रत्यवायजनकत्वमपीति वाच्यं नित्याकरणाज्ञाने प्रत्यवायाभावप्रसङ्गात् । ननु कथं तर्हि भाट्टैरनुपलम्भस्याभावमिति हेतुत्वमिष्यते तार्किकैश्च प्रतिबन्धकाभावस्य तत्तत्प्रागभावस्य च कारणत्वमिष्यत इति चेद् भ्रान्त्येति ब्रूमः । तथाहि न तावद्योग्यानुपलब्धेः स्वरूपसत्तामात्रेणाभावप्रमितिहेतुता युक्ता । तथा सत्यज्ञानकरणत्वेनाभावज्ञानस्य प्रत्यक्षान्तर्भावप्रसङ्गाज्ज्ञाताया एवानुपलब्धेरभावप्रमाहेतुत्वे तज्ज्ञानस्यैव भावरूपस्याभावज्ञानकारणता बलादायास्यतीति । प्रतिबन्धकाभावः कारणमिति

पक्षे स किं दृष्टकारणकलापकुक्षौ निक्षिप्तः किंवादृष्टकारणकलापकुक्षौ । आद्ये दाहादि-कार्यार्थिनः काष्ठादिसमवधानाधिगम इव प्रतिबन्धकाभावसमवधानाधिगमे सत्येव वह्नि-प्रज्वलनादौ प्रवृत्तिः स्यान्न च तथा प्रवर्तमानो दृश्यते । अन्यथा सत्यपि प्रतिबन्धक-समवधाने तदभावनिश्चयेन प्रवर्तमानस्य कदाचित्कार्यामुदयो (?) न भवेत् । ननु सति प्रतियोगिनि तदभावनिश्चयो भ्रम इति चेत्तर्हि प्रतिबन्धकस्यायोग्यत्वेन तदभावो ऽप्ययोग्य एवेति न तस्य दृष्टकारणकलापकुक्षिनिक्षेपः । नापि द्वितीयः । अस्मदाद्य-प्रत्यक्षाणामीश्वरतज्ज्ञानेच्छाप्रयत्नप्रागयदृष्टानां देशकालयोश्च सूर्यादिग्रहचारक्रियायाश्च भावरूपतया प्रतिबन्धकाभावत्वायोगात्तदतिरिक्तस्य कस्यचित्सर्वकार्यसाधारण-कारणस्य कल्पकाभावात् । किञ्च सत्यपि प्रतिबन्धकउत्तेजकसमवधाने कार्यदर्शनान्न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता । उत्तेजकाभावविशिष्टप्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वे तादृक्प्रतिबन्धकाज्ञाने तदभावाग्रहान्न तस्य कारणतासिद्धिः । न चानन्यथासिद्धनियतपूर्व-वर्तित्वमपि प्रतिबन्धकाभावस्य तदन्वयव्यतिरेकयोर्विरोधिसंसर्गाभावविषयतयान्यथा-सिद्धत्वात् । तर्हि विरोधिसंसर्गाभावत्वेनैव कारणतेति चेन्न सत्येवोत्पत्तिहेतुकलापसम-वधाने वोत्पत्तेः स्थितेर्वा विघटकभावस्य विरोधित्वप्रसिद्धेनं तदभावस्य सामग्र्यन्त-र्भावो विरोधिसंसर्गाभावस्य तत्प्रवेशे तत्प्रतियोगिनो विरोधित्वासिद्धिः । तस्मिंश्च सति तत्संसर्गाभावस्य सामग्रीप्रवेश इत्यन्योन्याश्रयस्य दुरुद्धारत्वादित्यलमतिकर्दमेन । प्रागभावस्यापि नियतप्राक्कालवर्तित्वेन कारणत्वेऽभावविशेषणस्य कालस्यात्माश्रयता-प्रसङ्गो न च प्रागभावत्वेनैव कारणत्वं तावन्मात्रे कारणलक्षणाभावात् । किञ्च कारणत्वं नाम धर्मो भावात्मक उताभावात्मकः । उभयथापि नाभावनिष्ठत्वं तस्य सम्भवति विरोधिनोर्भावाभावयोराधाराधेयभावानुपपत्तेः । अभावस्य निर्विशेषत्वान्निरति-शयत्वाद्वा । तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तौ दृष्टान्तः । तन्तुनाशात् पटनाश इत्यपि स्वप्रक्रियामात्रमित्यास्तां विस्तरः । अस्तु वा क्वचिदभावस्यापि कारणत्वं तथापि न प्रत्यवायस्याकरणहेतुत्वं प्रत्यवायशब्दवाच्यस्य पापादृष्टस्य तज्जन्यागामिदुःखस्य वा निषिद्धक्रियाजन्यत्वात् 'पापकारी पापो भवति (बृह० ४।४।५) 'अथ य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्' इति च श्रुतेः (छा० ५।१०।७)। तस्मादकरणे प्रत्यवायसाधनानि प्रत्यवायज्ञापकानि नित्यानीति व्याख्यानं सुव्याख्यानमिति । **सन्ध्या-वन्दनादीनि** इत्यादि पदात्पञ्चमहायज्ञादिविग्रहः ।

अनुवाद—जिनके न करने से पाप लगे वे नित्यकर्म हैं, जैसे सन्ध्यावन्दन आदि ।

टिप्पणी—सन्ध्यावन्दनादि—यहाँ आदि पद से पञ्चमहायज्ञ लिया जाता है । पञ्चमहायज्ञ ये हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ । मनु ने इनकी व्याख्या इस प्रकार की है—'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो देवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।।'

नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि ।

वि० म०—निमित्तमात्रमासाद्यावश्यककर्तव्यतया विहितानि नैमित्तिकानि

एतदाह **पुत्रेति** । जातेष्टिर्नाम 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जाते' इति विहित। (तैत्ति० सं० २।२।५।३) । आदिपदात् 'यस्याहिताग्नेर्गृहान् दहत्यग्निरग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्' (तैत्ति० २।२।२।५) इत्यादिनोक्तानां क्षामवत्यादीनां ग्रहः । उपरागस्नानादि च स्मार्तमुदाहरणीयम् । यद्यपि जातेष्टिवाक्यशेषे 'यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्व्यन्नाद् इन्द्रियावी पशुमान् भवति' (तैत्ति० २।२।५।४) इति पुत्रगाम्यवान्तरफलश्रवणान्न वक्ष्यमाणकर्तृगामिद्विविधफलानुकूलं जातेष्ट्युदाहरणं तथापि नैमित्तिकस्वरूपमात्रव्युत्पादनायोदाहरणं न दुष्यतीति द्रष्टव्यम् ।

अनुवाद—पुत्र-जन्म आदि के उपलक्ष में किये जाने वाले कर्म नैमित्तिक कहलाते हैं, जैसे जातेष्टि आदि यज्ञ ।

टिप्पणी—नैमित्तिकानि—किसी कारण को लेकर किये जाने वाले । 'निमित्तमात्रमासाद्य अवश्यकर्तव्यतया विहितानि नैमित्तिकानि' । निमित्त+ठक्—इक । **जातेष्ट्यादीनि**—पुत्रोत्पन्न होने पर पिता द्वारा जो जातकर्म संस्कार किया जाता है, उसे 'जातेष्टि' कहते हैं, जैसा कि तैत्तिरीयसंहिता में कहा है—'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते' । यहाँ आदि पद से क्षामवती इष्टि तथा ग्रहण-स्नान आदि का ग्रहण है । नैमित्तिक कर्म करने से पुण्य होता है और न करने से पाप लगता है ।

प्रायश्चित्तानि पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि ।

वि० म०—विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवारूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि **प्रायश्चित्तानि** । पापक्षयमात्रोद्देशेन विहितानि इति वा । आदिपदात् कृच्छ्रादिग्रहः ।

अनुवाद—पाप-क्षय के लिए किये जाने वाले कर्म प्रायश्चित कहलाते हैं, जैसे चान्द्रायण आदि व्रत ।

टिप्पणी—चान्द्रायणादीनि—पापों को हटाने के लिए चान्द्रायण, कृच्छ्र आदि व्रतों का विधान शास्त्रों में बताया गया है । यहाँ आदि पद से कृच्छ्र आदि को समझना चाहिए । चान्द्रायणव्रत में चन्द्रमा की कला के घटने-बढ़ने के अनुसार भोजन के कौर लिये जाते हैं, जैसा कि मनु ने बताया है—'एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् । उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥' अर्थात् पूर्णिमा को १५ कौर खाकर कृष्णपक्ष में क्रमशः एक-एक कौर घटाते-घटाते चतुर्दशी को एक कौर खाकर अमावस्या को पूर्णव्रत करके क्रमशः एक-एक कौर बढ़ाकर पूर्णिमा को व्रती पुनः १५ कौर खाता है और व्रत के दिनों में वह प्रतिदिन त्रिकाल स्नान करता है । इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है । चन्द्रस्य इदम् चान्द्रम् चन्द्र+अण् । चान्द्र√अय्+ल्युट्—अन, णत्व=चान्द्रायणम् ।

उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्य-विद्यादीनि ।

वि० म०—शास्त्रबोधिते सगुणे ब्रह्मणि दीर्घकालादरनैरन्तर्यार्पितमनोवृत्ति

स्थिरीकरणलक्षणानि **उपासनानि**। उपासनानां ज्ञानाद्भेदं दर्शयति **मानसव्यापार-रूपाणीति**। निदिध्यासनाद्भेदमाह **सगुणेति**: शाण्डिल्यविद्या नाम 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्युपक्रम्य 'स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरे भारूप' इत्यादिना छान्दोग्ये (३।१४।१।२) विहिता। वाजिनामग्निरहस्याख्येऽपि (शत० १०।६।३।२) काण्डे 'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरम्' इत्यादावुक्ता। बृहदारण्यके च मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्य' (५।६।१) इत्यादौ प्रत्यभिज्ञाता विद्या। आदिशब्दाद्दहरवैश्वानरादि-विद्यान्तरग्रहः।

अनुवाद—सगुण ब्रह्म में मन को लगाना (स्थिर करना) जैसे शाण्डिल्य-विद्या आदि।

टिप्पणी—(१) **सगुणब्रह्म**—उत्पत्ति, पालन एवं संहार से युक्त ब्रह्म सगुण ब्रह्म है, जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश। इनकी आराधना को उपासना कहते हैं। (२) **शाण्डिल्यविद्यादीनि**—छान्दोग्य उपनिषद् में शाण्डिल्य ऋषि ने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' से लेकर 'स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरे भारूपः' तक में यह कहा है कि संसार और आत्मा की ब्रह्मरूप में उपासना करनी चाहिए। इसी को शाण्डिल्यविद्या नाम से अभिहित किया गया है। यहाँ आदि शब्द से दहर, वैश्वानर आदि विद्याओं की विवक्षा की गई है।

एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकाग्र्यम् 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिश्रुतेः 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्यादि स्मृतेश्च।

वि० म०—इदानीमुक्तलक्षणानां नित्यादीनामीश्वरार्पणतयानुष्ठीयमानानां परमफलं दर्शयति **एतेषाम्** इति। आदिपदान्नैमित्तिकप्रायश्चित्तयोर्ग्रहः। नित्यादीना-मुपात्तदुरितक्षयद्वारा बुद्धिशुद्धिहेतुत्वमिति द्रष्टव्यं निर्गतनिखिलकल्मषतयेत्युक्तत्वात्।

'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।

इत्यादिस्मृतेः 'धर्मेण पापमपनुदति' इति श्रुतेश्च—चित्तशुद्धेः परमप्रयोजनत्वं परम्परया मोक्षसाधनत्वात्। तथा च स्मृतिः—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु'॥ (गीता १८।४५)

इत्युपक्रम्य

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥

इति तदुक्तम्। नैष्कर्म्यसिद्धावपि। 'नित्यकर्मानुष्ठानाद्धर्मोत्पत्तिर्धर्मोत्पत्तेः पाप-हानिस्ततश्चित्तशुद्धिस्ततः संसारयाथात्म्यावबोधस्ततो वैराग्यं ततो मुमुक्षुत्वं ततस्तदुपाय-पर्येषणं ततः सर्वकर्मसंन्यासस्ततो योगाभ्यासस्ततश्चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता ततस्तत्त्वम-

स्यादिवाक्यार्थपरिज्ञानं ततोऽविद्योच्छेदस्ततः स्वात्मन्यवस्थानम्' इति। **उपासनानां तु** इति। तुशब्दः कर्मभ्य उपासनाया वैशिष्ट्यद्योतनार्थः। तस्य नित्याद्यनुष्ठानक्षपितकल्मषतया विशुद्धस्य चित्तस्य शास्त्रप्रकाशिते ध्येये ज्ञेये वा विषय ऐकाग्र्यं निश्चलत्वमित्यर्थः। सूक्ष्मार्थावधारणसमर्थत्वमिति यावत्। पूर्वोक्तप्रकारेणानुष्ठीयमानानां नित्यादीनामुपात्तदुरितक्षयद्वारा शुद्ध्यादिपरम्परया ज्ञानहेतुत्वे प्रमाणमाह **विविदिषन्ति** इति। आदिपदात् 'तपसा नाशकेन' (बृह० ४।४।२२) इति वाक्यशेषग्रहः। विविदिषन्तीति विविदिषा सम्बन्धे विधिप्रत्ययोऽनुसन्धेयोऽपूर्वत्वात्। नहि यज्ञादीनां विविदिषा संयोगः पूर्वं प्राप्तो येनानुवादत्वं वाक्यस्य कल्प्येत। ननु यज्ञादीनां 'यावज्जीववाक्येनावश्यकर्तव्यतया प्राप्तानां विविदिषार्थत्वे नित्यानित्यसंयोगः प्रसज्येत यदि च विविदिषार्थं यज्ञाद्यनुष्ठानमपेक्षिष्येत् ततः संसारव्यावृत्तूनां द्विरनुष्ठानं स्यादिति चेन्न खादिरादिवत् संयोगपृथक्त्वोपपत्तेः। न च तर्हि तेनैव न्यायेन कर्मणां मोक्षार्थत्वमपीति शङ्कनीयं ज्ञानकर्मसमुच्चयनिराकरणात्। तथा च न्यायः (ब्रह्मसूत्र ३।४।२५) 'अत एवाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' इति। कर्मणां ज्ञानं प्रत्यारादुपकारकत्वं तु स्यात् 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इति न्यायात् (ब्रह्मसूत्र २६)। उक्तं च भाष्यकृद्भिः (शारी० भा०) 'विविदिषासंयोगात्तु बाह्येतराणि यज्ञादीनि' इति। तत्रैव स्मृतिं संवादयति **तपसा** इति। आदिपदात् 'कषायपक्तिः कर्माणि' इत्यादिस्मृत्यन्तरग्रहः।

अनुवाद--इन नित्य आदि कर्मों (अर्थात् नित्य, नैमित्तिक एवं प्रायश्चित्त रूप कर्मों) का परम प्रयोजन है बुद्धि को शुद्ध करना तथा उपासनाओं का प्रयोजन चित्त को एकाग्र करना है, जैसा कि श्रुति (बृहदारण्यक० ४।४।३२) में कहा गया है--'वेदों के स्वाध्याय तथा यज्ञ के द्वारा ब्राह्मण उस आत्मा को जानना चाहते हैं।' स्मृति (मनुस्मृति १२।१०४) भी कहती है--'तपस्या से पाप का नाश होता है।'

टिप्पणी--नित्यादीनाम्--निल्य आदि कर्मों के अनुष्ठान से पापक्षय होता है और पाप नष्ट होने पर बुद्धि शुद्ध होती है, जैसा कि स्मृति कहती है--'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्'। वस्तुतः नित्यकर्मों के अनुष्ठान से धर्म की उत्पत्ति होती है, धर्मोत्पत्ति से पाप की हानि होती है, तब चित शुद्ध होता है, तब संसार के स्वरूप का ज्ञान होता है, तब वैराग्य होता है, तब मुमुक्षा होती है, तब उसकी प्राप्ति के उपाय की चाह होती है, तब सकल कर्मों का त्याग करता है, तब योगाभ्यास करता है, तब ब्रह्म की ओर चित्त का झुकाव होता है, तब 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों का अर्थज्ञान होता है, तब अविद्या का नाश होता है, तब स्वात्मा में अवस्थिति होती है, यही निर्वाण या मोक्ष है।

नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकम्' इत्यादिश्रुतेः।

बि० म०—ननु नित्यादेः सत्त्वशुद्धितदैकाम्‌यफलकत्वे 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' (बृह० १।५।१६) 'सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति' (छा० २।२३।२) इति श्रुतिर्नित्यादीनां पितृलोकादिफलपरा पीड्येतेत्यत आह **नित्यनैमित्तिकयोः** इति। अत्र प्रायश्चित्ताग्रहणं तस्यावान्तरफलाभावात्। न ह्युपात्तदुरितक्षयमन्तरेण तस्य किञ्चित्फलं श्रुतमस्ति। अन्ययोस्तु तच्छ्रूयत इति विशेषः। नित्यनैमित्तिकयोः पितृलोकप्राप्तिरवान्तरफलमुपासनानां सत्यलोकप्राप्तिरिति विवेकः। 'तद्यथा आम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावित्यनूत्पद्येते' (आप० १।७।२०।३) इति स्मृत्युक्तछायागन्धवत्पितृलोकादिफलस्यावान्तरत्वमानुषङ्गिकत्वम्। तदुद्देशेन नित्यादेरविधानाद्विविदिषासंयोगस्य च विधानाच्छुद्धेरेव महाफलत्वमिति भावः। ननु पितृलोकस्य कथं नित्यादिसाध्यत्वं श्राद्धादिकर्मसाध्यसाध्यत्वात्। देवलोकस्य च—

'अष्टाशीतिसहस्राणां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।
उत्तरेणार्यम्णः पन्था..............' ॥ **विष्णुपुराण २।८।९३)**

इत्यादिस्मृतेर्नैष्ठिकाद्यूर्ध्वरेतआश्रमधर्ममात्रसाध्यत्वावगमात्कुतो विद्याफलत्वमिति चेदत्र पृच्छामः। किं श्राद्धादि नित्यनैमित्तिकरूपं कर्म काम्यं वेति। आद्ये कथं न नित्यादेः पितृलोकः फलम्। द्वितीये त्वस्य विध्युद्देशफलेनैव निराकाङ्क्षत्वात्पितृलोकफलसम्बन्धाभावान्नापि विना विद्यामूर्ध्वरेतआश्रमधर्ममात्रेणोत्तरमार्गगमनं सम्भवति।

'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः' ॥

इति श्रुतौ (शत० १०।५।४।१६) विद्याविरहिणामुत्तरमार्गनिषेधात्। निर्णीतं चैतदाचार्यैर्गुणोपसंहारपादे 'अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्' (ब्रह्मसूत्र ३।३।३१) इत्यत्राधिकरणे स्मृतिर्न पुनरावृत्तिमूर्ध्वरेतसामाचष्टे किन्तु गमनमात्रम्। श्रुतौ तु देवलोकशब्दितब्रह्मलोकगतानां पुनरावृत्त्यभावोऽवगम्यते। 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तंनावर्तन्त' (छा० ४।१५।६) इति 'तेषामिह न पुनरावृत्तिः' इति च (बृह० ६।१।१८, माध्य०)। यत्पुनरत्रेममिहेति च विशेषणात्कल्पान्तर आवृत्तिरवगम्यते तद्विद्यारहितानामनावृत्तिस्तु विद्यावतां क्रममुक्त्योग्मानादिति रहस्यम्। नन्वेवं सति छान्दोग्यभाष्यविरोधस्तत्र हि महता संरम्भेण 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासत' (छा० ५।१०।१) इति पञ्चाग्निविद्यागतवाक्यव्याख्यानावसरे गृहस्थानां विद्यारहितानामनृतपैशुन्यमायादम्भाब्रह्मचर्यादिभिरसूतत्वान्न स्वधर्मनिष्ठामात्रेणोत्तरमार्गगतिरस्ति। इतरेषां नैष्ठिकवानप्रस्थमुख्यसंन्यासिनां तु तद्विपरीतत्वात्पूततया स्वाश्रमधर्मनिष्ठामात्रेणोत्तरमार्गगतिरपुनरावृत्तिलक्षणा भवेदित्याचार्यैरेव निरूपितम्। 'न तत्र दक्षिणा' इत्यादि श्रुतिः परममुक्त्यपेक्षेति च व्याख्यातम्। तत्कुत एवं विभागवचनमिति चेत्सत्यम्। ऊर्ध्वरेतसामुत्तरमार्गेण ब्रह्मलोकगमनं विद्यां विनापीत्येतावन्मात्रं तत्रोक्तं न पुनरात्यन्तिक्यपुनरावृत्तिस्तत्र विवक्षिता।

'आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते'। (विष्णु पु० २।८।९६)

इत्यापेक्षिकामृतत्ववचनेनोदाहरणात्। गुणोपसंहारे च (शारी० ३।३।३१)

'तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणं वाजसनेयिनस्तु पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते (बृह० ६।२।१५) 'ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धासत्यमुपासत' इत्युदाहृत्य तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासत इति व्याख्येयं सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृतत्प्रयुक्तत्वात् इति तैरेव व्याख्यातत्वात् । याज्ञवल्क्यश्चाह–

'सप्तर्षीनामवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः ।
तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः ॥
तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया ;
तत्र गत्वावतिष्ठन्ते यावदाभूतसम्प्लवम्' ॥ इति

(याज्ञ० स्मृ० ३।१८७)

तस्मादात्यन्तिकपुनरावृत्तिविद्यावतामेवेति युक्तं क्रममुक्तिहेतुत्वाद्विद्यायाः । च न तर्हि मुक्तेरेव विद्यायाः परमप्रयोजनत्वाच्चित्तैकाग्र्यस्य तदयुक्तमिति वाच्यं सगुणब्रह्मविदस्तथात्वेऽपि निर्गुणब्रह्मविद्याधिकारिणः चित्तैकाग्रताया एव परमप्रयोजनत्वात् । तस्यापि साक्षात्कारोदयात्प्रागेव प्रमीतस्य ब्रह्मलोकगमनोपपत्तेः ।

'प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । (गीता ५।४१)

इत्यादि स्मृतेश्च । सगुणब्रह्मविदोऽपि ब्रह्मलोकगतस्य तत्रत्यं भोगं विद्यावा तरफलं भुक्तवन्तस्तत्रोत्पन्नचित्तैकाग्र्यद्वारा स्वयम्भातवेदान्तवाक्यार्थज्ञानादेव मुक्तिरिति नियमात् । भवत्येव चित्तैकाग्रतोपासनायाः परमप्रयोजनमिति न किञ्चिद् दुष्यति । तस्मात् 'सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति' (छा० २।२३।२) इति श्रुतेर्नित्यनैमित्तिकयोः फलवत्त्वस्य वाचनिकत्वात्तथात्वेऽप्युक्तलक्षणभेदेन काम्यवैषम्यात्फलविशेषस्य चाश्रुतत्वा पितृलोकस्य च फलात्मनः कर्मविशेषाकाङ्क्षित्वान्नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन 'कर्मणा पितृलोक' (बृह० १।५।१६) इति श्रुतिरुपपद्यते । काम्यप्रायश्चित्तयोः फलविशेषोद्देशेन पापक्षयमात्रार्थत्वेन च विधानात् फलान्तराकाङ्क्षाभावात्तथाङ्गावबद्धानामुपासनानां कर्मसमृद्ध्यर्थत्वादनङ्गावबद्धानामपि प्रतीकोपासनानामब्रह्मोपासनं चाभ्युदयफलत्वात्कार्यकारणब्रह्मोपासनानामवान्तरफलं देवलोकशब्दवाच्यब्रह्मलोक इति परिशेषात् सिद्धेयुक्तं विद्यया देवलोकः (बृह० ६) इति वचनमित्यलं प्रसङ्गेन ।

अनुवाद---नित्य और नैमित्तिक कर्मों, प्रायश्चित्तों तथा उपासनाओं का गौण फल है पितृलोक एवं सत्यलोक की प्राप्ति । क्योंकि श्रुतिवचन है---'कर्म के द्वार पितृलोक तथा विद्या के द्वारा देवलोक की प्राप्ति होती है ।

टिप्पणी--(१) **अवान्तरफलम्**---गौण या अप्रधान फल । जैसे आम्र आदि वृक्षों को लगाने का मुख्य फल है आम आदि का फल पाना, किन्तु गौण फल है छाया सुगंध को प्राप्त करना । उसी तरह नित्य आदि कर्मों एवं उपासनाओं का मुख्य फल है बुद्धि-शुद्धि एवं चित्त की एकाग्रता, किन्तु गौण फल है पितृ लोक एवं सत्यलोक की प्राप्ति । (२) **सत्यलोक**---ऊपर के सात लोकों में सबसे ऊपर सत्यलोक की स्थिति मानी जाती है । इसी को ब्रह्मलोक भी कहते हैं । (३) **कर्मणा**---यह श्रुतिवाक्य बृह

उप० (१, ५, १६) में आया है। इसमें 'विद्यया' का तात्पर्य 'उपासना' से है न कि ज्ञान से। क्योंकि पितृलोक एवं देवलोक की प्राप्ति उपासना से होती है न कि ज्ञान से

साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविराग-शमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि।

वि० म०—साधनसम्पन्नः प्रमाताधिकारीत्युक्तं, तत्र कानि साधनानि कियन्तीत्यपेक्षायां तानि विभजते **साधनानि** इति। विवेकमन्तरेण वैराग्यायोगाद्विवेकस्य प्राथम्यं न हीदं हेयमिदमुपादेयमिति विवेचनमन्तरेण हेयाद्रागनिवृत्तिः सम्भवति। अतिनिवृत्त-रागस्य शमाद्यभावाच्छमाद्यपेक्षया विरागस्य पूर्वमुद्देशः। शान्त्यादिहीनस्य मुमुक्षायोगा त्ततः प्रागेव शमाद्युद्देशः। एतैस्त्रिभिः साधनैः सम्पन्नस्य मुमुक्षाया अवश्यम्भावात्तस्यां च सत्यां ब्रह्मजिज्ञासायां नियमेन प्रवृत्तेर्मुमुक्षान्तान्येव साधनानीत्यभिप्रायः।

अनुवाद—(पूर्वोक्त साधनचतुष्टय की व्याख्या करते हैं—) नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, ऐहलौकिक तथा पारलौकिक फल के भोगने से विरक्ति, शम आदि छह सम्पत्तियाँ और मोक्ष की इच्छा—ये (चार) साधन (कहलाते) हैं।

टिप्पणी—**साधनानि**—वेदान्त-ज्ञान के अधिकारी को उपर्युक्त चार साधनों से सम्पन्न होना आवश्यक है। इनमें पूर्व-पूर्व साधन उत्तरोत्तर साधन को प्राप्त कराने में सहायक है; नित्यानित्यवस्तुविवेक के बिना फल-भोगों से विरक्ति नहीं हो सकती, विरक्ति के बिना शम, दम आदि छह सम्पत्तियों की प्राप्ति नहीं हो सकती और छह सम्पत्तियों को प्राप्त किये बिना मुमुक्षा कैसी?

नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद् ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यद-खिलमनित्यमिति विवेचनम्।

वि० म०—विवेकादीन्युद्देशक्रमेण लक्षयति **नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावत्** इत्यादिना। नित्यत्वं नाम कालानवच्छिन्नत्वम्, अनित्यत्वं नाम तद्विपरीतत्वम्। न स्थास्यतीति लोकान्तरगमंयोर्व्यवहारायोग्यं नित्यं तद्विपरीतमनित्यमिति वा। तथा च नित्यानित्ये च ते वस्तुनी च नित्यानित्यवस्तुनी तयोर्विवेक इति विग्रहः। केचित्तु नित्यानित्ययोर्वस्तु शीलं ययोस्ते नित्यानित्यवस्तुनी नित्यत्वमनित्यत्वं च तयोः साश्रययोर्विवेको नित्यानित्य-वस्तुविवेक इत्याहुः। स चापाततोऽधिगतवेदार्थस्यानुमानकुशलस्य ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमकेतनमनित्यमिति विवेको भवति। तथाहि। 'यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते तदेव ज्योतिषां ज्योतिः' (बृह० ४।४।१६) 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' (मुण्ड० १।१।६), 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः', 'अजो नित्यः शाश्वतः' (कठ० २।१८) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० २।१।६), 'ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्' (बृह० ३।६।२८), 'यत्र नान्यत्पतति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७।२४।१), 'यो वै भूमा तदमृतम्' (छा० ६) इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मणि नित्यत्वं विशुद्धसत्त्वस्य पुंसः प्रति भाति। तथा 'नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्' (बृह० १।२।१), 'आत्म

त्मा इदमेव एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत्' (ऐत० १।१), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१), 'नेति नेति नेति', 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृह० २।३।६) तथा (४।४।१९ क्रमशः), 'यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं (छा० ७।२४।१), 'अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' इत्यादिश्रुतिवचनेभ्यो ब्रह्मणोऽन्यत्र भेदप्रपञ्चेऽनित्यत्वं च तस्यैव पुंसः प्रतिभाति। तथानुमानमपि 'विमतोऽचेतनवर्गोऽनित्यो विभक्तत्वाद्घटस्तम्भादिवत्' इति। अनेन हि विभक्तस्यानित्यत्वेऽवगते तस्मिन्ननुशातप्रकाशात्मकस्य ब्रह्मणोऽविभक्तस्य नित्यत्वमप्यर्थादवगच्छति आकाशादेश्चोत्पत्तिमत्त्वसाधनेनानित्यत्वमुत्तरत्र वर्णयिष्यामः। न चैवं श्रुत्यनुमानाभ्यां विवेके सति ब्रह्मणो विज्ञातत्वादलं विचारेणेति वाच्यमापाततो नित्यं वस्तु ब्रह्मेत्यवगमेऽपि तस्याद्वितीयत्वत्यागभिन्नत्वादेरनिर्धारणाज्जिज्ञासाया अनिवृत्तेः। इत्यास्तां विस्तरः।

अनुवाद—ब्रह्म ही नित्य वस्तु है और उसके अतिरिक्त सब अनित्य है—यह नित्य और अनित्य का विवेक है।

टिप्पणी—नित्य—नित्य का लक्षण है—'कालाद्यनवच्छिन्नत्वं नित्यत्वम्' जो काल, स्थान आदि की सीमा से परे है वह नित्य है और जो इसके विपरीत है वह अनित्य है। इस लक्षण के अनुसार ब्रह्म काल आदि की सीमा से परे होने के कारण नित्य है और जगत् अनित्य है। ब्रह्म के नित्यत्व को सिद्ध करने वाली श्रुतियाँ विद्वन्मनोरञ्जनी टीका में 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' से लेकर 'यो वै भूमा तदमृतम्' तक द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार जगत् के अनित्यज्ञापक श्रुतियाँ भी वहीं 'नैवेह किञ्चनाग्र' से लेकर 'तन्मर्त्यम्' तक अवलोकनीय हैं।

ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतया नित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिः—इहामुत्रार्थफलभोगविरागः।

वि० म०—ऐहिकानामिति। इहलोकभवा ऐहिकाः प्रतिपन्नशरीरसम्बन्धिनः स्रक्चन्दनवनितागृहक्षेत्रभुक्त्यादिविषयजन्यसुखरूपा भोगाः कृषिसेवाप्रतिग्रहादिकर्मजन्यत्वादनित्या यथा दृष्टा एवमामुष्मिका अप्यमृतादिविषयसेवाजन्यानन्दा यागादिकर्मजन्यत्वादनित्या भवितुमर्हन्तीति निश्चित्य तेभ्यो नितरां छर्दितान्नवज्जुगुप्सेहामुत्रार्थफलभोगविराग इत्यर्थः। अयं भावः। सुखं मे निरतिशयं भूयाद्दुःखं मे मा भूदणुमात्रमपीति खिलप्राणिनामस्त्यभिनिवेशः। ते चैवमभिनिविष्टाः पुरुषकारावलम्बनेन सर्वोत्साहं यतन्तोऽपि न लभन्ते सुखमात्यन्तिकं दुःखाभावं च। कथम्। केचित् समुद्रयानराजप्रीणनाद्यतिकष्टमनुभूय फलकाले स्वयं नश्यन्ति। केचित्प्राप्तफला अपि व्याध्याद्युपद्रुतन्तो भोगं न लभन्ते। केचित्तु प्राप्तवद्भोगा अपि भोग्यभार्यापुत्रादिविनाशाद्वा तत्सम्बाद्वान्यैर्वा सह स्पर्धासूयादिभिः संचितभोग्यजातस्य क्षयभयेनानावृष्ट्यादिचिन्तासन्तापादिभिश्च क्षणमपि सुखमलभमानाः कष्टा दरिद्राः काणकुब्जक्लीबबधिरादयो बुभुक्षापिपासार्दिता बहुलमुपलभन्ते। एवं दुःखबहुले संसारे सुखलवमात्रमनुभवन्नपि कुत्र

द्विशुद्धचित्तो न सज्यते किन्तु विरज्जय एवेति। नन्वस्त्वेवमैहिकं सुखमनित्यत्वादिदोष-दुष्टत्वाद्विरागास्पदं तथापि न पारलौकिकादपि विरक्तिरुपपद्यते क्षयिष्णुत्वानुमानस्य 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' (शत० २।६।३।१) इति श्रुतिबाधित-विषयस्यानुत्थानादिति चेन्मैवम्। 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्य-जितो लोकः क्षीयत' इति (छा० ८।१।६) श्रुत्या वस्तुबलावलम्बनेन प्रवृत्तयानन्यपरया सापेक्षाक्षय्यफलविषयकायाः प्रशस्तलक्षणायाः विध्येकवाक्यत्वेनान्यपरायास्तस्या एव बाधितत्वात्। न हि जन्यं नित्यं भावरूपं दृष्टमत ऐहिकभोगवदेवाब्रह्मस्तम्बपर्यन्तेषु भोगेषु वैराग्यमुपपद्यत इति। तदुक्तं भगवता व्यासेन—

'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ (इति० महाभा०)

अनुवाद—जैसे इस लोक के, माला, चन्दन, रमणी आदि विषयों के भोग कर्मजन्य होने के कारण अनित्य हैं उसी तरह परलोक के भी अमृत आदि विषयों के भोग अनित्य हैं, इस कारण उन (दोनों प्रकार के भोगों) से अत्यन्त विरक्ति होना इस लोक और परलोक के पदार्थों के फलोपभोग से विरक्ति है।

टिप्पणी-(१) **ऐहिकानाम्**-इस लोक के। इह भवाः ऐहिकाः इह + ठक्-इक तेषाम्। (२) **कर्मजन्यतया**-कर्म से उत्पन्न होने के कारण। 'यत् यत् कर्मजन्यं तत् तत् कार्यम् (अनित्यम्)' इस व्याप्ति के अनुसार ऐहलौकिक एवम् पारलौकिक भोग कर्मजन्य होने के कारण अनित्य है। (३) **आमुष्मिकाणाम्**-परलोक के। अमुष्मिन् भवाः इत्यर्थे ठक् प्रत्ययः, सप्तम्याः अलुक्, टिलोपः = आमुष्मिकाः तेषाम्। (४) **अमृतादिविषयभोगानाम्**-अमृत तथा आदि पद से स्वर्वेश्या आदि विषयों के उपभोगों का। अमृत आदि का उपभोग यागादिजन्य होने से अनित्य है। (५) **अमुत्र**-परलोक के। अदस् + त्रल्, उत्व मत्व।

शमादयस्तु—शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः। शमस्तावत्—श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः। दमः बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्।

वि० म०-शमादीन्विभजते **शमादय** इति। मनसो बहिः प्रवृत्तौ बाह्येन्द्रियाणां द्वारत्वा (?) तन्निरोधमन्तरेण मनोनिग्रहाशक्तेर्मदमानन्तरं शमो द्रष्टव्यः पाठक्रमादर्थ-क्रमस्य बलीयस्त्वादग्निहोत्रयवागूपाकवत् मनसोऽन्तः करणस्य निग्रहो विषयेभ्यो बलादा-कर्षणं शम इत्येतावत्युक्ते श्रवणादिविषयेभ्योऽपि निग्रहे प्राप्ते ततो निग्रहस्य ज्ञानानुकूल-त्वाभावादनर्थक्यमित्याशङ्क्य निग्रहं विशिनष्टि श्रवणादीति। मननादिसंग्रहार्थमादि-पदम् एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। तद्व्यतिरिक्तेत्यत्र श्रवणादिस्तच्छब्दार्थः।

अनुवाद—शम आदि (छह सम्पत्तियाँ) ये हैं—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा। (उनमें) श्रवण आदि (अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन) के अतिरिक्त (सांसारिक) विषयों से मन को रोकना शम कहलाता है। श्रवण आदि के

अतिरिक्त विषयों से बाह्य इन्द्रियों (कान, आँख, नाक आदि) को रोकना दम कहलाता है।

टिप्पणी—(१) शम—मन का स्वभाव है कि वह सांसारिक विषयों में बार-बार दौड़कर जाता है। उसको वहाँ न जाने दे यही शम है, जो वेदान्तज्ञान के साधक के लिए आवश्यक है। (२) दम—विषयों से आँख, कान आदि बाह्य इन्द्रियों को निवृत्त करना दम है। यह भी साधक के लिए आवश्यक है।

निर्वर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिरथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः।

वि० म०—निवर्तितानां तेषां वाह्यान्तरिन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यः श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणं पुनर्विषयप्रवृत्त्यनुत्साहकरणेन स्थिरीकरणमुपरतिरित्यर्थः ननु शमदमयोर्लक्षणाभ्यामिदमुपरतिलक्षणं सङ्कीर्णं प्रतिभाति वहिः प्रवृत्तेन्द्रियव्यापारनिरोधात्मकस्य लक्षणार्थस्य तुल्यत्वादित्यपरितोषात्प्रकारान्तरेणोपरतिं लक्षयति अथवेति। विहितानामवश्यकर्तव्यतया चोदितानां सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादीनं कर्मणां विधिना 'तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति' (जाबाल० ४)

'प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात॥ (मनु० ६।३८)

इत्यादिश्रुतिस्मृत्युक्तमार्गेण परित्यागः परिव्रजनं संन्यास उपरतिरित्यर्थः। शमादिवत्संन्यासोऽप्यात्मज्ञानान्तरङ्गत्वादवश्यं मुमुक्षुणानुष्ठेयः। तथा च श्रुतयः—

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'। (महाभा० १०।५)
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः॥'
(मुण्ड० ३।२।६)

'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति' (बृह० ४।४।२५ माध्य०) 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च व्युत्थायाथ लोकैषणायाश्च भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृह० २६) तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' (महाभा० २१।२) इत्याद्याः।

स्मृतयश्च—

'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।' (गीता १८।४९)
'त्वम्पदार्थविचाराय संन्यासः सर्वकर्मणाम्॥
(उपदेशसाहस्री १८।२२२)

'अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च कामस्य रूपं च वपुर्वयश्च।
धर्मस्य यागादि दया दमश्च मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्यः॥
(संक्षेपशारी० ३।३६६

प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्॥ (महाभा० १९)

इत्यादयः न्यायश्च पुरुषस्योद्देश्यसिद्धये यदुपयुक्तमविरोधि च तदुपादेयं विपरीतं तु हेयमिति । तदिह ब्रह्मात्मजिज्ञासूनां वेदान्तविचारे क्रियमाणे न कर्मणामुपयोगो विनापि कर्म तदनुष्ठानसिद्धेः । नाप्यविरोधः । कर्मविक्षिप्तचित्तस्य वेदान्तार्थनिर्णयासक्तेः कर्मणां विचारविरोधित्वात् । न ह्यपेतब्रह्मक्षत्राद्यकर्तृभोक्तृब्रह्माहमस्मीत्यात्मनि विचार्यमाणे ब्राह्मणाद्यध्यासविशिष्टात्मप्रतिपत्त्यधीनेषु कर्मस्वधिकारो न विरुध्यते येनात्मजिज्ञासुना कर्माणि न त्यक्तव्यानि स्युः । तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायैरात्मज्ञानाङ्गतया यः संन्यासः कर्तव्यतया प्राप्तः सोपरतिरिति भावः ।

अनुवाद—(सांसारिक विषयों से) निवृत्त की गई इन (आभ्यन्तर और बाह्य) इन्द्रियों का श्रवण आदि के अतिरिक्त विषयों से निरोध करना उपरति है अथवा शास्त्रविहित (नित्य, नैमित्तिक आदि) कर्मों का शास्त्रोक्त विधि के अनुसार (संन्यास आश्रम में) त्याग करना उपरति है ।

टिप्पणी—उपरति—उपराम, निरोध अर्थात् पुनः विषयों में प्रवृत्त न होना । उप√रम्+क्तिन् । इसके प्रथम लक्षण 'निवर्तितानाम्' वाले वाक्य में अरुचि है, कारण इसका भाव पूर्वोक्त शम, दम के लक्षण का भाव जैसा ही है और 'निवर्तितानाम्' कहकर पुनः 'तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यः' कहना पुनरुक्तदोष भी है । इसलिए 'विहितानाम्' यह दूसरा लक्षण किया है । ध्यान रहे कि यहां कर्मत्याग संन्यासियों के लिए है, गृहस्थों के लिए नहीं ।

तितिक्षा—शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता । निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम् ।

त्रि० म०—शीतोष्णादीत्यादिपदान्मानापमानलाभालाभशोकहर्षादिग्रहः । श्रवणादावित्यत्रादिशब्दो मननादिसंग्रहार्थः । तदनुगुणेत्यत्र गुरुशुश्रूषा पुस्तकसम्पादनं तद्रक्षणादिः श्रवणाद्यनुगुणो विषयो निर्दिश्यते । न पुनः सुखवासद्रव्यान्नादिसंग्रहादेरपि श्रवणाद्यनुकूलत्वात्तदर्थं महारम्भप्रतिग्रहादावपि चित्तसमाधिः कर्तव्य इहोपदिश्यते 'दण्डमाच्छादनं कौपीनं परिग्रहेच्छेत्रं विसृजेत्' (आरुणेय उप० १।२) इति संन्यासकाले त्याजितस्य दण्डकौपीनाद्यतिरिक्तस्य प्रतिप्रसवशास्त्रं संग्रहानुपपत्तेरित्यर्थः । समाधिरैकाग्र्यं तत्परत्वमिति यावत् ।

अनुवाद—सर्दी, गर्मी आदि युग्मों को सहन करना तितिक्षा है । विषयों से रोके गये मन का श्रवण आदि (श्रवण, मनन, निदिध्यासन) में तथा उसके अनुरूप विषयों (अर्थात् आत्मज्ञानोपकारक विषयों) में एकाग्र होना समाधान है ।

टिप्पणी—(१) तितिक्षा—सर्दी-गर्मी, मान-अपमान, हानि-लाभ आदि एवं इनसे उत्पन्न सुख-दुखः आदि को शरीर-धर्म समझकर सह लेना तितिक्षा है । विवेकचूडामणि में तितिक्षा का लक्षण है—'सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम् । चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते' । गीता में भी इसी प्रकार की बात कही गई है–'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः । आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत' (२, १४) । √तिज्+सन्, द्वित्वादि+अ+टाप् (आ) ।

(२) समाधानम्—निगृहीत या वशीभूत मन को श्रवण, मनन आदि में लगा देना समाधान है। यहाँ 'श्रवणादि' में आदि पद से अभिमान का अभाव, गुरुसेवा, वेदान्त-ग्रन्थों का अध्ययन इत्यादि भी विवक्षित हैं। सम् - आ √धा + ल्युट् - अन = समाधानम्। (३) समाधिः - एक आलम्बन पर मन और मन के व्यापारों को समान रूप से लगाना समाधि कहलाता है—सम्यक् आधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः। सम्—आ √धा + कि।

गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा। मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा—

वि० म०—गुरुवेदान्तादीत्यादिपदात्स्मृतीतिहासपुराणानां ग्रहः विश्वास इदमित्थमेव नान्यथेति गुर्वादिवाक्येषु नियता बुद्धिः सा श्रद्धेत्यर्थः। चरमं साधनं लक्षयति मुमुक्षुत्वमिति। मोक्षो नाम विद्यानिरस्ताविद्यातत्कार्यब्रह्मात्मनावस्थानम्। तद् विषयेच्छा मोक्षेच्छा तद्वत्त्वं मुमुक्षुत्वमित्यर्थः।

अनुवाद—गुरु के द्वारा बताये गये वेदान्त के वाक्य में विश्वास करना श्रद्धा है। मोक्ष की इच्छा करना मुमुक्षुत्व है।

टिप्पणी—(१) श्रद्धा—गुरूपदिष्ट वेदान्त, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि के वाक्यों में विश्वास रखना श्रद्धा है। श्रत् √धा + अङ् + टाप्। श्रद्धा रखने पर ही ज्ञान की प्राप्ति होती है—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः' (गीता)। 'अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी' (महाभारत)।

(२) मुमुक्षुत्वम्-मोक्ष की इच्छा होना मुमुक्षुत्व कहलाता है। यद्यपि वेदान्त के अधिकारी के लिए इच्छाओं का त्याग बताया गया है, किन्तु वह त्याग अनात्मविषयक सांसारिक इच्छाओं के सम्बन्ध में है। मोक्ष की इच्छा तो आत्मविषयक है, अतएव इसका त्याग नहीं बल्कि उपादान ही श्रेयस्कर है। मोक्तुमिच्छुः मुमुक्षुः √मुच् + सन्, द्वित्वादि + उ। मुमुक्षोः भावः मुमुक्षुत्वम् मुमुक्षु + त्व।

एवम्भूतः प्रमाताधिकारी 'शान्तो दान्त' इत्यादिश्रुतेः। उक्तञ्च—

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च
प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा
प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे॥' इति

वि० म०—ननु—

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति..........................'॥ (बृह० ४।४।७)

इति श्रुतेः सर्वकामविमुक्तस्य मोक्षाधिकारात्कथमिच्छाधिकारविशेषणमिति चेन्नायं दोषोऽनात्मविषयेच्छाया एव कामत्वात्तदभिप्राया श्रुतिः। मोक्षेच्छायास्तु आत्मविषयतया कामत्वात् 'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम' (बृह० ४।४।६) इति श्रुतेरात्मकामस्याप्तकामत्वेनाकामत्वावगमादिति विद्याधिकारिणः। शमादिसाधनत्वे श्रुतिं प्रमाणयति—शान्तो दान्त इति। 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' इति काण्वाः पठन्ति (बृह० ४।४।२३) समाहित इत्यस्य स्थाने 'श्रद्धावित्तो भूत्वे' ति माध्यन्दिनाः। तदुभयपाठानुरोधेन गुणोपसंहारन्यायमाश्रित्येह शमादयः प्रगिनर्दिष्टा इति द्रष्टव्यम्। शमादेर्विद्याहेतुत्वं श्रीभगवानप्याह—

'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते'। (गीता ६।३)

'..................अशान्तस्य कुतः सुखम्'। (गीता २।६६) तथा

'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'। इति (गीता २।५८)

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। इति (गीता १८।६६)

'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत। इति (गीता २।१४)

'समाधावचला बुद्धिः.....................'। (गीता २।५३)

'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय'। इति (गीता ८।८)

'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः'। (गीता ५।३९)

'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति'। इति च (गीता ४।४०)

मुमुक्षुत्वेऽपि—

'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'। (श्वेता० ६।१८)

'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'। (गीता १५।४)

इति श्रुतिस्मृती द्रष्टव्ये। एवं विशेषणविशिष्टो वेदान्ताधिकारीति निरूपितेऽर्थेऽभियुक्तवचनमुदाहरति। उक्तं च—प्रशान्तम् इति। प्रशान्तचित्ताय शान्ताय। प्रहीणदोषाय नितान्तनिर्मलस्वान्ताय। यथोक्तकारिणे काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्याद्यनुष्ठानलब्धेश्वरप्रीतये। गुणान्विताय विवेकवैराग्योपरतितितिक्षासमाधानयुक्ताय। सर्वदा गुरुमनुगताय श्रद्धालवे। एवंभूताय मुमुक्षव एतदात्मज्ञानं सततम्। गुरुणा देयमिति श्लोकार्थः।

अनुवाद—इस प्रकार का प्रमाता (साधक वेदान्तविद्या का) अधिकारी है; क्योंकि श्रुति कहती है—'जो शान्त, दान्त है' इत्यादि (अर्थात् साधक शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान से युक्त होकर अपने अन्तःकरण में आत्मा का

साक्षात्कार करता है)। (उपदेशसाहस्री में) कहा भी गया है—'प्रशान्त चित्त वाले, जितेन्द्रिय, दोष-रहित, (शास्त्र में) जैसा बताया गया है वैसा आचरण करने वाले (विवेकादि) गुणों से सम्पन्न और (आचार्यों के) अनुगामी मुमुक्षु को यह (ब्रह्मज्ञान) सदा ही देना चाहिए।

टिप्पणी—(१) शान्तो दान्तः—(बृह० उप० ४।४।२३) यह श्रुतिवाक्य इस प्रकार पठित है—'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति'। (२) प्रहीणदोषाय—जिसके दोष (पाप-समूह) त्यक्त या नष्ट हो गये हैं। प्र√हा (त्यागे)+क्त=प्रहीण। प्रहीणाः दोषाः यस्य स प्रहीणदोषः (ब० स०), तस्मै। (३) यथोक्तकारिणे—शास्त्रों में जैसा कहा गया है वैसा ही करने वाला। यथा उक्तम् यथोक्तम् (सुप्सुपासमास), यथोक्तं कर्तुं शीलमस्य इति यथोक्त√कृ+णिनि, तस्मै। (४) गुणान्विताय विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि गुणों से सम्पन्न। (५) अनुगताय—बड़ों के अनुगामी अर्थात् श्रद्धालु।

विषयः—जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्।

वि० म०—तदेवमधिका[illegible]पितः इदानीं विषयानुबन्धं व्यपदिशति विषय इति क्षीरनीरवत्परस्परविभि[illegible] समानाभिहारस्यैक्यशब्दार्थत्वाज्जीवब्रह्मणोरपि स्वरूपतो भिन्नयोरैक्यं मिश्रीभाव इति शङ्का स्यात्साभूदिति व्याचष्टे शुद्धचैतन्यमिति। चैतन्यस्य शुद्धत्वं सर्वधर्मातीतत्वमेकरसत्वम्। ननु कथं शुद्धचैतन्यस्य विचारविषयत्वं यावता प्रागपि विचारात्स्वप्रकाशं स्वयमेवावभासत इत्याशङ्क्य स्वरूपेणावभासमानत्वेऽपि परिपूर्णसच्चिदानन्दप्रत्यक्स्वरूपतया ज्ञायमानत्वाद्विषयत्वोपपत्तिरित्यभिप्रेत्याहप्रमेयमिति। प्रमेयत्वमज्ञातत्वम्। अयं भावः। ब्रह्मात्मवस्तुनो विषयस्यात्यन्ताप्रसिद्धौ न विचारप्रवृत्तिः सम्भवयुद्देश्यविषयाप्रसिद्धेः। तथा यथावत्प्रसिद्धौ च न विचारप्रवृत्तिरनुपयोगात्। तथा च केचिद्रूपेण प्रसिद्धं ब्रह्मात्मवस्तूद्दिश्य विचारेण तद्याथात्म्यं निर्णेयम्। तदिह ब्रह्मपदस्य निरतिशयमहत्त्ववति सामान्येन प्रसिद्धत्वात्मपदस्य च प्रतीतिसामान्येन प्रसिद्धेः 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१९) इत्यादौ समभिव्याहारादैक्यस्याप्यापाततः प्रसिद्धेस्तद्विशेषस्य च पारोक्ष्यसद्वयत्वाद्यनधिकारत्वस्य देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहंकृतिविलक्षणतत्साक्षिप्रत्यगभिन्नसच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मरूपत्वस्य चाप्रसिद्धेः सामान्यतः प्रसिद्धवस्तूद्देशेन तद्विशेषनिर्धारणाय विचारप्रवृत्त्युपपत्तिरिति। यद्वा। परोक्षतः प्रसिद्धं ब्रह्मात्मवस्तूद्दिश्य तत्स्वरूपसाक्षात्काराय विचारप्रवृत्त्युपपत्तिरिति। तथा च श्रुतिः। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृह० २-२-५) इत्यात्मसाक्षात्कारमनूद्य तादर्थ्येन मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां सह श्रवणमनुष्ठेयं विधत्ते। स्मृतिरपि—

> 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
> मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥' इति।

ननु प्रधानादीनामपि कपिलकणादादिस्मृतिसिद्धानां वेदान्तवाक्यविषयत्वात्कथं जीवब्रह्मैक्यस्य विषयत्वसंकीर्तनमिति तत्राह—तत्रैवेति । उपक्रमोपसंहारादिभिर्लिङ्गैर्वेदान्ततात्पर्यं निरूप्यमाणे प्रत्यक्स्वरूपे ब्रह्मण्येव पर्यवसानदर्शनात्प्रधानादिषु चादर्शनाद् ब्रह्मैव वेदान्तविषयो न प्रधानादिरित्यर्थः । तथा श्रुतिस्मृती भवतः । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ० २।१५) 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' (गीता १५।१५) इति ।

अनुवाद—जीव और ब्रह्म की एकता रूप शुद्ध चैतन्य प्रमेय (वेदान्तशास्त्र तथा वेदान्तसार ग्रन्थ का) विषय है; क्योंकि वेदान्त-वाक्यों का तात्पर्य उसी में है ।

टिप्पणी—(१) अनुबन्ध-चतुष्टय में से प्रथम अनुबन्ध—'अधिकारी' का निरूपण करने के बाद 'विषय' रूप द्वितीय अनुबन्ध का निरूपण करते हैं—**जीवब्रह्मैक्यम्**—इसका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र या वेदान्तसार प्रतिपाद्य विषय है जीव और ब्रह्म की एकता अर्थात् अविद्या के कारण जीव और ब्रह्म में अध्यारोपित जो अल्पज्ञत्व—सर्वज्ञत्वादि विरुद्ध धर्म हैं, उनका परित्याग कर देने से शुद्ध चैतन्य ही अवशिष्ट रहता है, यही वेदान्तवाक्यों के कहने का अभिप्राय है । यहाँ एकता दूध-जल की तरह पृथक्-पृथक् दो वस्तुओं की एकता न समझ ली जाय, इसके निराकरण के लिए 'शुद्धचैतन्यम्' विशेषण जोड़ा गया है । अर्थात् जीव और ब्रह्म का ऐक्य शुद्ध चैतन्य रूप है मिश्रण नहीं ।

(२) **प्रमेय**—प्रमाण द्वारा जानने योग्य । प्रमातुं योग्यं प्रमेयम् प्र √मा + यत् । यहाँ शंका होती है कि स्वयं प्रकाशमान चैतन्य ब्रह्म को प्रमाण द्वारा कैसे जाना जाएगा ? वह स्वयं ज्ञात है । अतएव वह प्रमेय कैसे होगा ? इसका उत्तर है कि अज्ञान के आवरण के कारण अज्ञात ब्रह्म ही प्रमेय है, ज्ञात ब्रह्म नहीं ।

सम्बन्धस्तु—तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावः ।

वि० म०—तृतीयमनुबन्धमाह—सम्बन्धस्तु इति । तदैक्यं प्रत्यग्ब्रह्मणोरैक्यं तच्च तत्प्रमेयम् चेति तथा तस्येति विग्रहः । ननु कथं यथोक्तप्रमेयस्योपनिषत्प्रमाणबोध्यत्वं निर्धर्मके तस्मिन्शब्दशक्तिगोचरत्वायोगादिति चेत्को भावः । शब्दादिहीनस्य वाच्यत्वानुपपत्तिरिति चेन्न । अनुक्तोपालम्भात् । अज्ञस्य लक्ष्यत्वानुपपत्तिरिति चेद्यथा लक्षणावृत्त्याश्रयणेन ब्रह्मात्मैक्यप्रतिबोधस्तथोत्तरत्र वक्ष्यामः ।

अनुवाद—उन दोनों (जीव और ब्रह्म) की एकता रूप प्रमेय (ज्ञेय विषय) और उसके प्रतिपादक प्रमाणभूत उपनिषद् वाक्य का बोध्यबोधक भाव सम्बन्ध है ।

टिप्पणी—बोध्यबोधक—बोध्य = जानने योग्य । बोधक = जानने वाला । यहाँ जीव और ब्रह्म की एकता (अभेद) बोध्य है और 'तत्त्वमसि' आदि उपनिषद्वाक्य उसके बोधक हैं । अतएव उनमें परस्पर बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है । √बुध् + ण्यत् = बोध्य । √बुध् + ण्वुल्—अक = बोधक । यह तीसरा अनुबन्ध हुआ ।

प्रयोजनं तु—तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दा-

वाप्तिश्च 'तरति शोकम् आत्मवित्' इत्यादिश्रुतेः, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतेश्च ।

वि० म०--चरममनुबन्धमाह प्रयोजनं तु इति । तदैक्यप्रमेयशब्दः पूर्ववत् । अज्ञानं वक्ष्यमाणलक्षम् । तस्य निवृत्तिः प्रयोजनमित्येतावत्युक्ते समूलदुःखोन्मूलनलक्षणं वैशेषिकाभिमतं प्रयोजनमभ्युपगतं प्रतिभायात् । तन्मा भूदिति विशेषणान्तरोपादानम् । अज्ञाननिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च प्रयोजनमित्युक्ते नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्निःशेषदुःखोच्छित्तिश्च प्रयोजनमिति भाट्टाभिमतं प्रयोजनं प्रतिभायात् । तन्मा भूदिति तत्स्वरूपेत्युक्तम् । ब्रह्मात्मचैतन्यस्य चानन्दरूपत्वं प्रतिपादितमधस्तात् । विचारजन्यज्ञानस्योक्तोभयविधं प्रयोजनमित्यत्र क्रमेण श्रुती प्रमाणयति तरतीत्यादिना । आत्मविद्भूमाख्यब्रह्मात्मसाक्षात्कारवाञ्छोपलक्षितसंसारमूलाज्ञानं तरत्यतिक्रामति । यः कश्चिद् ब्रह्म परमात्मानं प्रत्यग्रूपं वेद साक्षात्करोति स ब्रह्मैव भवति तद्रूप एव भवतीत्यर्थः ।

नन्वविद्यानिवृत्तेर्विद्यासाध्यत्वेन प्रयोजनत्वेऽपि कथं स्वरूपानन्दस्य तथात्वं तस्य नित्यप्राप्तत्वेन विद्यासाध्यत्वाभावादिति चेत्सत्यं नित्यप्राप्तमप्यानन्दात्मब्रह्मस्वरूपमविद्यावस्थायां विस्मृतकण्ठगतचामीकरवदनवाप्तमिव भवति । विद्यया त्वविद्यानिवृत्तौ विज्ञातचामीकरवदव्यक्तिमापद्यमानवाप्तमिव व्यपदिश्यत इति न काचिदनुपपत्तिरिति भावः ।

अनुवाद—प्रयोजन (रूप चौथा अनुबन्ध) तो उस (जीव और ब्रह्म) के ऐक्यरूप प्रमेय के सम्बन्ध में अज्ञान की निवृत्ति और अपने आनन्दमय स्वरूप की प्राप्ति है । क्योंकि 'आत्मा को जानने वाला शोक को पार कर जाता है । (छा० उप० ७।१।३) इत्यादि श्रुति तथा 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है' (मुण्डको० ३।२।९) इत्यादि श्रुति भी इसमें प्रमाण हैं ।

टिप्पणी--प्रयोजनम्--आत्मगत अज्ञान और उस अज्ञानजन्य संसार की निवृत्तिपूर्वक अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर अखण्ड आनन्द की प्राप्ति ही वेदान्तशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है ।

२. गुरूपसर्पणप्रकारः

अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलतप्तो दीप्तशिरा जलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति, 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादिश्रुतेः । स परमकृपया अध्यारोपापवादन्यायेनैनमुपदिशति, 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादिश्रुतेः ।

वि० म०--एवं साधनचतुष्टयसम्पन्नस्याधिकारिणो विज्ञातविषयादिमत आत्मयाथात्म्यजिज्ञासया गुरूपसत्तिं दर्शयति अयमधिकारी इति । जननमरणादीत्यादिपादाद्राग-द्वेषादिग्रहः । संसारानलसन्तप्तो गुरुमुपसृत्य तमनुसरतीत्यन्वयः । उपसरणं समीपगमन-

मनुसरणमनुवृत्तिरिति भेदः । अत्युद्विग्नस्याविलम्बेन तच्छान्तिकरस्थानुप्रवेशे दृष्टान्तमाह प्रदीप्तेति । निदाघमहाग्रार्कमरीचिसंव्याप्तखल्वाटः प्रदीप्तशिराः । शिशिरतरमधुरजल-परिपूर्णो महाह्रदो जलराशिः ।

'रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं देवतां गुरुम्'

इति वचनमाश्रित्याह उपहारपाणिरिति । उपहार उपायनं पाणौ यस्य सः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति गुरोर्विशेषणे । श्रोत्रियत्वं वेदवेदाङ्गपारंगत्वं वेदान्तार्थपारंगत्वं वा प्रकृतोपयोगात् । श्रोत्रियग्रहणमकामहतत्वावृजिनत्वयोरप्युपलक्षणार्थम् 'यश्च श्रोत्रि-योऽवृजिनोऽकामहत' (बृह० ४।३।३३) इति श्रुतेः । अकामहतत्वं ब्रह्मलोकानन्दादर्वाची-नेष्वानन्देष विनष्णात्वम् । अवृजिनत्वं यथोक्तकारितया निष्पापत्वम् । ब्रह्मनिष्ठत्वमौपनि-षदब्रह्मात्मविज्ञानपरिपूर्णत्वमित्यर्थः । उक्तविधिना यथोक्तगुरूपसर्पणं विद्यार्थिनावश्यं कर्त-व्यमित्यत्र प्रमाणमाह समिदिति । समिच्छब्दो गुरोरनुरूपोपायनमात्रोपलक्षणपरः । आदिशब्दात् 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' (छा० ६।१४।२) 'आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्' (छा० ४।६।३) इत्यादिश्रुत्यन्तरसंग्रहः शिष्योपसत्त्यनन्तरं गुरोरुपदेश-क्रमं दर्शयति स परमेति । स गुरुः परमकृपया प्रपन्नजनक्लेशदर्शनजातकरुणया तन्मति-प्रकाशनप्रवृत्त्या वा । तदुक्तमभियुक्तैः—

'एतदेव हि दयालुलक्षणं यद्विनेयजनबुद्धिवर्धनम्' ॥ (इति संक्षेपशारीरक ४।३)

उक्तार्थज्ञापिकां श्रुतिं पठति तस्मा इति 'तस्मा एतत्प्रोवाच । यद्वेत्थ तेन मोप-सीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि' (छा० ७।१।१) इत्यादि श्रुत्यन्तरमादिशब्दार्थः ।

अनुवाद—जैसे (धूप से) तपे हुए सिर वाला (पुरुष) जल के पास जाता है उसी प्रकार जन्म, मरण आदि रूप सांसारिक अग्नि से तपा हुआ यह (वेदान्त का) अधिकारी उपहार हाथ में लिये, श्रोत्रिय एवम् ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर उनका अनुसरण करता है। जैसा कि श्रुति कहती है—'हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय एवम् ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाय'। वह (गुरु) अत्यन्त दयावश 'अध्यारोप' और 'अपवाद' न्याय से उस (अधिकारी) को उपदेश देता है। जैसा कि श्रुति कहती है—'अपने पास आये हुए उस (श्रद्धालु) को विद्वान् (गुरु) तत्त्वज्ञान बताता है।

टिप्पणी—(१) **दीप्तशिराः**—जिसका सिर तप गया है। दीप्तं शिरः यस्य सः (बहुव्रीहि)। भाव यह है कि जैसे भयानक गर्मी से अत्यन्त पीड़ित मनुष्य अपनी व्याकुलता शान्त करने के लिए जलाशय के पास जाता है उसी तरह जन्म-मरण, राग-द्वेष आदि सांसारिक ताप से सन्तप्त वेदान्ताधिकारी पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिए वेदान्त-विद्या में निष्णात गुरु के पास जाय। (२) **उपहारपाणिः**—हाथ में उपहार लिये हुए। उपहारः पाणौ यस्य सः (बहुव्रीहि)। क्योंकि शिष्टाचार है—'रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं ब्राह्मणं गुरुम् (राजानं देवतां गुरुम्—यह भी पाठ मिलता है)'। ब्रह्मजिज्ञासुओं के लिए समिधा या कुश हाथ में लेकर आचार्य के पास जाना चाहिए।

(३) **श्रोत्रियम्**—वेद-वेदांगों में पारंगत विद्वान्। छन्दोऽधीते इति श्रोत्रियः छन्दस्+घ—इय, छन्दस् के स्थान में श्रोत्र आदेश। स्मृति में इसका लक्षण इस प्रकार

किया गया है—'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥' (४) ब्रह्मनिष्ठम्—ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले। ब्रह्मणि निष्ठा यस्य स ब्रह्मनिष्ठः (व्यधिकरणबहुव्रीहि) श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु से वेदान्त की शिक्षा लेनी चाहिए। बिना गुरु के ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिए मुण्डकोपनिषद् के भाष्य में आचार्य शंकर ने लिखा है—'शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्'। छान्दोग्यउपनिषद् भी कहती है—'आचार्यवान् पुरुषो वेद' अर्थात् गुरु से युक्त पुरुष ही ब्रह्म को जान पाता है।

(५) अध्यारोपापवादन्यायेन—अविद्या के कारण ब्रह्म में नाना प्रकार के मिथ्या पदार्थों का 'आरोप' करना अध्यारोप है और उसका निषेध 'अपवाद' है। आगे इस पर विचार किया गया है।

३. अध्यारोपः

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अनादिसकलजडसमूहोऽवस्तु।

वि० म०—अध्यारोपं सदृष्टान्तं लक्षयति असर्प इति। ननु कथं वस्तुनो निरात्मकस्यारोपो यावता क्वचिद्दृष्टपूर्वस्य सत एव क्वचिदारोपो दृष्टः। उक्तं च भट्टाचार्यैः :—

'अध्यस्यते खपुष्पत्वमसत्कथमवस्तुनि।
अज्ञातगुणसत्ताकमध्यारोप्येत वा नवा'। इति (तन्त्रवार्तिक १।४।२२)

उच्यते। संस्कारजन्यो हि भ्रमस्तत्सिद्धये पूर्वप्रतीतिमात्रमपेक्षते न पुनः पूर्वप्रतीतस्य परमार्थसत्त्वमपि व्यतिरेकाभावात्संशयविपर्ययदृष्टेष्वपि संस्कारकार्यस्मृतिदर्शनात्। तथाहि लोकेऽनुभवोऽस्मिन्वल्मीककूटे मम पुरा स्थाणुः पुरुषो वेति सन्देह आसीदस्मिञ्छुक्तिशकले रजतमिदमिति भ्रम आसीदित्यादिः। न च संशयविपर्यययोरेवं स्मृतिर्न तदर्थयोरिति वाच्यमर्थशून्ययोस्तयोः स्मृतिविषयत्वानुपपत्तेः। तस्मान्निरुपाख्यविलक्षणस्य पूर्वपूर्वभ्रमदृष्टस्याप्युत्तरोपपत्तेर्भ्रमप्रवाहस्य चानादित्वेना योन्याश्रयानवस्थादिप्रसङ्गानवकाशाद्युक्तं वस्तुनि परमार्थे सत्यवस्तुनोऽनिर्वचनीयस्यारोप इत्यर्थः। वस्त्ववस्तुनी क्रमेण लक्षयति वस्तु इति। ननु ब्रह्मण एव वस्तुत्वे जीवस्य शुक्त्यादेश्चावस्तुत्वात्कर्तृत्वाद्यध्यारोपे चाव्याप्तिः स्यादिति चेन्न ब्रह्मण्येव जीवत्वस्यापि कल्पितत्वात्कर्तृत्वादेश्च सोपाधिकभ्रमत्वोपाध्यनुरक्ते ब्रह्मण्येवाध्यारोपाच्छुक्त्यादेरपि रजताद्यधिष्ठानचैतन्यावच्छेदकत्वेनाधिष्ठानत्वमुपचर्यते। न पुनस्तस्यैवाधिष्ठानत्वमज्ञातं हि वस्त्वारोपाधिष्ठानम्। न च शुक्त्यादेरज्ञातत्वमस्ति जडत्वाच्चिन्मात्रविषयत्वाच्चाज्ञानस्य। तदुक्तम्-

'यस्याज्ञान भ्रमस्तस्य भ्रान्तः सम्यक् च वेत्ति सः।
जडं न विद्यावेद्यत्वान्नातोऽज्ञानं जडाश्रयम् ॥' (तत्त्वदीपन)

ततश्च सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसम्भेदावभासीऽध्यारोप इत्युक्तं भवति

एतेन चिज्जडयोः परस्परतादात्म्याध्यासे शून्यमेव जगतस्तत्त्वं स्यादध्यस्तस्य मिथ्यात्वादिति केषाञ्चिच्चोद्यं निरस्तम् । भ्रमकाले परिस्फुरदंशस्य मिथ्यात्वेऽप्यपरिस्फुरतोऽशान्तरस्य विद्यमानत्वात् । तदुक्तमभियुक्तैः—

'अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु
नान्यत्कथञ्चन परिस्फुरति भ्रमेषु ।
रज्जुत्वशुक्तिशकलत्वमरुक्षितित्व-
चन्द्रैकताप्रभृतिकानुपलम्भनेन' ॥ इति (संक्षेप शारीरक १।३६)

'किञ्चानृतद्वयमिहाध्यसितव्यमिष्टं
स्याच्चेत्तदा भवति चोद्यमिदं त्वदीयम् ।
सत्यानृतात्मकमिदं मिथुनं मिथश्चे-
दध्यस्यते किमिति शून्यकथाप्रसङ्गः' ॥ (संक्षे० शा० १।३३)

इति च ।

तस्माद्युक्तमुक्तं वस्तु सच्चिदानन्दाद्वयं ब्रह्म तस्मिन्नज्ञानतत्कार्याखिलजडसमूहस्यावस्तुनोऽध्यारोप इति ।

अनुवाद—जो सर्प नहीं है ऐसी रस्सी में सर्प का भान होने के समान वस्तु (ब्रह्म) में अवस्तु (जगत्) के आरोप को अध्यारोप कहते हैं । सत्, चित् और आनन्दरूप, अनन्त एवं अद्वैत ब्रह्म वस्तु है और अज्ञान आदि सभी जड-समूह अवस्तु है ।

टिप्पणी—(१) अध्यारोप–किसी वस्तु में उसी के समान अन्य वस्तु के आरोप (भ्रम) को अध्यारोप कहते हैं । जैसे रस्सी में सर्प का भान होना और सीपी में चाँदी का भान होना अध्यारोप है । 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिरारोपः' । शारीरकभाष्य में इसका लक्षण किया गया है–'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' । अर्थात् पहले की देखी हुई किसी वस्तु का अन्य वस्तु में स्मरणवशात् भासित होने लगना या प्रतीति होना अध्यारोप है । इसी प्रकार ब्रह्म या आत्मा में अज्ञानवशात् संसार का भासित होना या प्रतीत होना अध्यारोप है । इस अध्यारोप को अध्यास या विवर्त भी कहते हैं । इसका दूर हो जाना ही अपवाद है । जैसे दीपक के द्वारा प्रकाश होने पर रस्सी में सर्प की प्रतीति दूर हो जाती है उसी प्रकार श्रवण-मनन आदि का निरन्तर अभ्यास करते-करते ज्ञानोदय होने पर संसार की प्रतीति हट जाती है । विवेकचूडामणि में अध्यास का अच्छा वर्णन किया गया है–'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा, विवेकाभावाद् वै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा । ततोऽनर्थात्रतो निपतति समादातुरधिकस्ततो योऽसद्ग्राहः स हि भवति बन्धः शृणु सखे ॥'

(२) वस्तु–भूत, वर्तमान और भविष्य में अक्षुण्ण रहने वाली सत्ता को वस्तु कहते हैं । वह वस्तु अद्वितीय ब्रह्म ही है । तदतिरिक्त सब कुछ अवस्तु है, कुछ है ही नहीं । तब जगत् की प्रतीति जो हो रही है, वह भ्रमात्मक है । इसी भ्रम को हटाने के लिए श्रवण-मननादि का निरन्तर अभ्यास आवश्यक है । (३) अज्ञानादि– यहाँ अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव नहीं है अपितु माया, अविद्या आदि है । इसी अज्ञान के द्वारा ब्रह्म

के अधिष्ठान में जगत् की सृष्टि की जाती है। ब्रह्म स्वयं प्रकाश्य तथा चैतन्य है। उसी से अज्ञान आदि प्रकाशित हैं। यहाँ आदि पद से जागतिक समस्त पदार्थ लिये गये हैं।

अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादि श्रुतेश्च।

वि० म०--अज्ञानं व्युत्पादयति अज्ञानं तु इति। तु शब्दो मतान्तरेभ्यो वैशिष्ट्य-द्योतनार्थः। तमेव विशेषं दर्शयति सदसद्भ्यामित्यादिना। ज्ञानविरोध्यज्ञानमित्युक्ते ज्ञान-प्रागभावे प्रसङ्गं व्युदस्यतिभावरूपमिति उत्तरज्ञानविरोधिपूर्वज्ञानव्युदासाय सदसद्भ्याम-निर्वचनीयमिति। मिथ्याज्ञानव्युदासाय त्रिगुणात्मकमिति। यद्वा ज्ञानविरोधित्वं ज्ञाना-पनोद्यत्वं तदेवाज्ञानत्वमित्यज्ञानलक्षणम्। न च ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यत्वप्रपञ्चे ऽतिव्याप्तिस्तस्याज्ञानोपादानकत्वेनाज्ञानानतिरेकात्। नाप्यज्ञानात्मसम्बन्धे ऽतिव्याप्तिर-सङ्गस्वभावस्य चिदात्मनो ऽज्ञानसम्बन्धस्याज्ञानाधीनत्वात्तस्याप्यज्ञानात्मत्वोपपत्तेः। अतो नानयोर्लक्ष्यबहिर्भाव इति न लक्षणस्यातिव्याप्तिः। अव्याप्त्यसम्भवयोस्तु शङ्कैव नास्ति ज्ञानेनाज्ञानबाधस्य प्रसिद्धत्वात्। न च पूर्वज्ञाने ज्ञानप्रागभावे चातिव्याप्तिः पूर्व-ज्ञानस्य ज्ञानापनोद्यत्वनियमाभावादिच्छादिवृत्त्यन्तरोत्पत्त्यापि तदपनोददर्शनात्। इह च नियमेन ज्ञानापनोद्यस्याज्ञानत्वाभ्युपगमात्। प्रागभावस्य च प्रतियोग्युत्पत्तिमात्रविरो-धिनस्तदपनोद्यत्वाभावात्। न ह्यनुत्पन्नः प्रतियोगी कस्यचिदपनोदकः सम्भवति। अतो न तयोरतिव्याप्तिः।

नन्वज्ञानस्यापि ज्ञानोत्पत्तिनान्तरीयकतया विनाशाश्रयणात् कथं ज्ञानापनोद्यत्व-मिति चेन्न। ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं विलम्बाभावाभिप्रायेणाज्ञाननाशस्य ज्ञानोत्पत्तिनान्तरीय-कतावाचोयुक्तेराश्रयणात् भावाभावयोस्तु क्षणमात्रमपि सहभावानुपपत्तेरित्यपि प्रागभावा-द्वैरम्यमज्ञानस्येति। सदसद्भ्यामनिर्वाच्यमित्यपरं लक्षणम्। अत्रापि पूर्ववदेवातिव्याप्त्या-दिपरिहारो द्रष्टव्यः। नेदमसम्भवि। अज्ञानस्य सत्त्वे चिदात्मबाधाभावप्रसङ्गात्। असत्त्वे च बन्ध्यासुतादिवदपरोक्षप्रतिभासानुपपत्तेः। बाधप्रतीत्योश्चाज्ञाने प्रसिद्धत्वाद्युक्तं तस्यानिर्वचनीयत्वम्। सदसत्त्वपक्षयोरुक्तदूषणमुपजीव्य मिथ्याज्ञानसंस्कारोऽज्ञानमसत्-प्रकाशनशक्तिर्वेत्यासद्वेति मतद्वयं निरसनीयम्। मिथ्याज्ञानमात्मगुणोऽज्ञानमिति पक्षं निरस्यति त्रिगुणात्मकमिति। गुणा लोहितशुक्लकृष्णा अज्ञानकार्येषु तेजोऽन्नेष्ववान्तर-प्रकृतिषु प्रसिद्धाः यदग्नेः रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति श्रुतेः (छा० ६।४।१) तथा च कार्यगतत्रिरूपेण कारणमप्यज्ञानमव्याकृतात्मकं त्रिरूपेण त्रिगुणात्मकमिति यावत्। यथा च न्यायः (ब्रह्मसूत्र १।४।९)। 'ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके' इति। यद्वा रजः सत्त्वतमोलक्षणास्त्रयो गुणास्तद्युक्तमज्ञानं त्रिगुणात्मक-मिति गुणगुणिनोरभेदविवक्षया त्रिगुणात्मकमित्युक्तम्। तथा च गुणस्य गुणवत्त्वानुप-

पर्त्तेन मिथ्याज्ञानमज्ञानमित्यर्थः। ज्ञानाभावो ऽज्ञानमिति मतं निरस्यति भावरूपमिति। अयमर्थः। अभावप्रतियोगी यज्ज्ञानं तत्किं साक्षिचैतन्यं स्यात् 'साक्षी चेता' (श्वेता० ६।११)।

इत्यादि श्रुतेस्तस्यापि ज्ञानत्वप्रसिद्धेः। किंवान्तःकरणवृत्तिः 'विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति' (छा० ७।७।१) इति विज्ञानशब्देन बुद्धेः श्रवणात्। अथवात्मगुणस्तथात्वेन च ज्ञानस्य वैशेषिकतन्त्रे प्रसिद्धत्वात्। तत्राद्यो नाभावप्रतियोगी तस्य नित्यत्वात्। द्वितीये ज्ञानशब्दस्त्वौपचारिकत्वेन तदभावस्य मुख्यतोऽज्ञानत्वायोगात्। 'येन वा पश्यति' इत्यारभ्य 'प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् प्रज्ञानेत्रो लोक' (ऐत० ५।१-३) इत्यन्तेन प्रज्ञाशब्दवाच्य प्रत्यक्चैतन्यव्याप्तस्येव चक्षुरादिद्वारकबुद्धिपरिणामस्य संकीर्तनात्। सांख्यपक्षमाश्रित्यानौपचारिकत्वे स्वीक्रियमाणेऽपि न वृत्त्यभावोऽज्ञानं वृत्त्यभावशब्देन वृत्त्युपादानबुद्धिस्वरूपावस्थानमात्रस्यैवाभिलाषात्। अतः पक्षान्तरं परिशिष्यते। तत्रेदं वक्तव्यम्। ज्ञानविशेषाभाव एवाज्ञानं ज्ञानसामान्याभावोऽपि वेति। नाद्यो मूढोऽहं न किञ्चज्ज्ञानामीत्यनुल्लिखितविषयविशेष्यस्याप्यज्ञानस्यानुभवात्। न च तत्रापि विषयविशेषपर्यवसायित्वं कल्प्यत इति वाच्यं विनानुपपत्तिं सामान्यबुद्धेर्विशेषालम्बनत्वे सामान्यबुद्धिविलोपसंग्रहात् तथा च घटवत्यपि भूतले घटसामान्यनिषेधप्रसङ्गः सुषुप्त्यभावप्रसङ्गश्च स्यात्। तस्माज्ज्ञानसामान्यभावोऽहमज्ञ इत्युल्लिख्यत इति वाच्यम्। तत्र चाभावज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानसनापेक्षस्यात्मनि धर्मिणि ज्ञाने च प्रतियोगिनि विज्ञायमाने तस्मिन्नेवात्मनि कथं ज्ञानाभावग्रहोऽभावप्रतियोगिनो ज्ञानस्य तत्र वर्तमानत्वात्। तयोरविज्ञायमानयोरपि कथं तत्राभावग्रहः कारणाभावात्। षष्ठप्रमाणपक्षेऽप्ययं न्याय ऊहनीयः। नन्वनुपपत्तौ सत्यां सामान्यबुद्धेरपि विशेषालम्बनत्वं कल्प्यते यथा घटवत्यपि भूतले घटो नास्तीति बुद्धेर्विवक्षितघटाभावविषयत्वं तद्वदिहापि सामान्याभावस्य यत्किञ्चित्प्रतियोगिसत्त्वविरोधादात्मनि विज्ञायमाने तस्मिन्ननुपपत्तेर्न किञ्चज्ज्ञानामीति बुद्धेर्ज्ञानविशेषाभावविषयत्वं कल्प्यत इति चेन्न। अनयैवानुपपत्त्या भावान्तरविषयत्वस्यैव कल्पनीयत्वात्। नहि मूढोऽहं सामान्यं किञ्चिदपि न जानामीत्यनुभवे किञ्चिद्विषयान्तरमवशिष्यते यज्ज्ञानाभावविषयत्वमस्य कल्प्येत। यथास्मिन् भूतले न कोऽपि घटोऽस्तीति प्रत्यये घटविशेषस्यानवशेषस्तद्वत्। नन्वप्रसिद्धभावान्तरकल्पनाद्वरं प्रसिद्धस्याभावस्येव यथाकथञ्चिदप्यज्ञानबुद्धेर्विषयत्वकल्पनमिति चेन्न। अत्यन्तमप्रसिद्ध्यभावात्। 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां' (श्वेता० १।३) 'मायां तु प्रकृतिम्' इति च (श्वेता० ४।१०) श्रुतिवाक्योर्गुणवत्त्वेनोत्पद्यमानजगदुपादनत्वेन च प्रसिद्धत्वात्। तस्मान्नाभावो ज्ञानं किन्तु भावान्तरमेवेति।

ननु भावत्वमप्यज्ञानस्यानुपपन्नमनादेस्तस्य भावरूपत्वे चिदात्मवदनिवृत्तिप्रसङ्गादनिर्मोक्षापत्तेरित्यत आह यत्किञ्चित् इति। अयमर्थः। नास्य [illegible]स्य भावत्वं परमार्थसत्त्वाभिप्रायेणोच्यते किन्त्वभाववैलक्षण्याभिप्रायेण। न च भावाभावयोः परस्पर प्रतिषेधेऽन्यतरविधिनान्तरीयकत्वात्प्रकारान्तरानुपपत्तिरिति वाच्यं स्त्रीपुंस्त्वयोः परस्परप्रतिस्पर्धिनोर्निषेधे तदन्यस्य नपुंसकस्येव भावाभावान्यस्याज्ञानस्योपपत्तेः। अथ तत्र

प्रमाणान्तरेण तृतीयाप्रकृतिरुपलभ्यत इति मतं तर्हीहाप्यस्ति प्रमाणं प्रतीतिबाधान्यथा-नुपपत्तिरिति सन्तोष्टव्यम् । वस्तुतस्तु नात्रास्माकमत्यन्तमाग्रहोऽज्ञाने सर्वानुपपत्तेरलङ्कारत्वात् । तदुक्तम्—

'अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम् ।
यत्प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्' ।।इति।।
(बृहवा० वार्तिक पृ० ५७)

'सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी ।
सहते न विचारं सा तमो यद्वद्दिवाकरम् ।। इति च ।।
(नैष्कर्म्यसिद्धि ३।६६)

इष्टसिद्धावपि—

दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम् ।
कथञ्चिद्घटमानत्वेऽविद्यात्वं दुर्घटं भवेत् ।।इति।।

तस्मात् सत्त्वेनासत्त्वेन सदसत्त्वेन वा सावयवनिरवयवोभयात्मकत्वेन वा भिन्नाभिन्नोभयरूपत्वेन वा निर्वक्तुमशक्यत्वेनानिर्वचनीयमज्ञानं सवितरि दिवान्धपरिकल्पितान्धकारवद्यत्किञ्चिदिति वदन्ति वृद्धा इति सिद्धम् ।

इदानीं यथानिरूपितमज्ञानमेव नास्तीति विवदमानं प्रतिबोधयितुं तत्रानुभवश्रुती प्रमाणयति अहमज्ञ इत्यादिना । अनुभवश्चास्य ज्ञानाभावविषयत्वं प्रतिक्षिप्तम् । निर्विकल्पकघटितप्रतियोगिकस्य ज्ञानसामान्याभावस्य स्वात्मनि प्रत्यक्षायोग्यत्वाच्च । न च भावरूपमप्यानमात्मनि ज्ञायमाने न ग्रहीतुं शक्यते तस्य ज्ञानविरोधित्वादिति वाच्यं स्वप्रकाशसाक्षिचैतन्येन तस्य विरोधाभावात् । अन्तःकरणवृत्यैव तु विरोधादहमज्ञ इत्यहङ्कारगर्भस्य चोल्लेख्यसाक्षिप्रकाशिताज्ञानविषये स्फुटतर व्यवहारमात्रत्वाच्च न काचिदनुपपत्तिरिति भावः । देवस्य स्वयम्प्रकाशस्यात्मनः शक्तिं शक्तिवत्परतन्त्रां स्वगुणैः शुक्लादिभिः सत्त्वादिभिर्वा निगूढ़ामालिङ्गितां ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्निति सम्बन्धः ।

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।' (गीता ५।१५)
'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' । (गीता ७।२५)

इत्यादिस्मृतिः । प्रत्यगात्मचैतन्यस्य ब्रह्मणो नित्यप्राप्तत्वेन स्वप्रकाशत्वेन चास्ति प्रकाशत इति व्यवहारपुष्कलकारणे सतिनास्ति न प्रकाशत इति तद्विपरीतव्यवहारस्यान्यावरणमन्तरेणानुपपत्तिः 'श्रोतव्य' (बृह० २।४।५) इत्यादिविधिनात्मयाथात्म्यज्ञानाय श्रवणादिविधानानुपपत्तिश्चेत्यर्थापत्तिद्वयं चकारेण समुच्चीयते ।

अनुवाद-अज्ञान (माया) तो सत् और असत् दोनों प्रकार से अवर्णनीय है (अर्थात् अज्ञान को न तो सत् कह सकते हैं और न असत्, अतएव वह अनिर्वचनीय है), त्रिगुणात्मक है (अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस् रूप है), ज्ञान का विरोधी है, भावरूप है और यत्किञ्चित् है (अर्थात् 'यह ऐसा है' इत्यादि निश्चित सीमा के द्वारा बोध्य न होने के कारण यत्किञ्चित् (कोई पदार्थ) है, ऐसा (वेदान्ती लोग) कहते हैं, क्योंकि

'मैं अज्ञानी हूँ' इत्यादि अनुभव होता है (अर्थात् 'मैं अज्ञानी हूँ' इत्यादि अनुभवों का प्रत्यक्ष आभास ही अज्ञान की सत्ता को प्रमाणित करता है)। श्रुति भी कहती है -- 'वह (अज्ञान या माया) ब्रह्म की अपनी शक्ति है, जो अपने (उक्त तीनों) गुणों से आवृत है'।

टिप्पणी—(१) **अज्ञानम्**–माया, अविद्या। (२) **सदसद्भ्यामनिर्वचनीयम्** अज्ञान को 'सत्' नहीं कह सकते, क्योंकि यदि वह सत् होता तो ब्रह्म के समान त्रिकालाबाधित होता, पर ऐसा नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर उसका नाश हो जाता है। उसको 'असत्' भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'मैं अज्ञ हूँ' इत्यादि अनुभवों से उसकी प्रतीति होती है। अतः उसे सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय कहा गया है। भगवान् – शंकराचार्य ने भी अज्ञान (माया) को इसी प्रकार निरूपित किया है– 'सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो। साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा ॥'

(२) **त्रिगुणात्मकम्**—तीन गुण (सत्त्व, रज और तम) रूप। अज्ञान को अनिर्वचनीय मानने के बाद प्रश्न होता है कि जो किसी प्रकार जाना ही नहीं जा सकता है, उसकी सत्ता भी नहीं होगी, उस सन्देह को दूर करने के लिए उसका विशेषण 'त्रिगुणात्मकम्' दिया गया है। अर्थात् 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि वह अज है तथा त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणात्मक होने से उसकी सत्ता अवश्य है।

(३) **ज्ञानविरोधि**–ज्ञान का विरोधी है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार या ज्ञान होने पर अज्ञान विनष्ट हो जाता है। (४) **भावरूपम्**–अज्ञान भावरूप है अर्थात् उसका अस्तित्व है। (४) **यत्किञ्चित्**–जो कुछ। अज्ञान को 'ऐसा ही है' 'यही है' इस प्रकार निश्चय करके प्रदर्शित नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह न तो सत् है, न असत् है और न सदसदुभयरूप है। इसी प्रकार वह न सावयव है, न निरवयव है और न सावयवनिरवयोभयरूप है, अतः उसका किसी भी रूप से वर्णन नहीं किया जा सकता। इसीलिए उसको अनिर्वचनीय माना गया है। उसको जानने का प्रयत्न करना वैसा ही होगा जैसा कि तीव्र प्रकाश के द्वारा अँधेरे को देखने का प्रयत्न–'अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद् यो ज्ञानेनात्यन्तमूढधीः। स तु नूनं तमः पश्येद्दीपेनोत्तमतेजसा ॥' (वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावली)

(५) **अहमज्ञः**–मैं अज्ञ हूँ, इत्यादि प्रत्यक्षावभास ही अज्ञान में प्रमाण है। (६) **देवात्मशक्तिम्**– ब्रह्म की अपनी शक्ति अर्थात् अज्ञान, जिसे माया और अविद्या नाम से भी अभिहित किया जाता है, ब्रह्म या परमात्मा की शक्ति है। इसलिए द्वैत (भेद) की सम्भावना का भी निराकरण हो जाता है। क्योंकि शक्ति और शक्तिशाली में अभेद होता है। शंकराचार्य ने परमात्मा की इस अव्यक्त शक्ति के बारे में कहा है– 'अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या। कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥'

४. अज्ञानस्य समष्टिव्यष्टिरूपभेदद्वयम्

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते।

वि० म०–ननु 'अजामेकां' (श्वेता० ५।५) 'इन्द्रो मायाभिः' (ऋग्वेद ६।४७।१८) इति श्रुतिभ्य एकत्वानेकत्वयोरज्ञाने विप्रतिपत्तौ कः समाधिरिति विवक्षायामाह इदम् इति। व्यष्टिर्विशेषः समष्टिः सामान्यम्। व्यवह्रियते श्रुत्यादिष्विति शेषः। अयं भावः। यो यदनुरक्तबुद्धिविषयो नियतः स तदात्मको यथा मृदनुरक्तबुद्धिविषयो घटो मृदात्मको दृष्टः। तथा सामान्यानुरक्तबुद्धिविषया विशेषाः सामान्यात्मका इति युक्तम्। सामान्यविशेषयोरत्यन्तभेदे गवाश्ववत्सामान्यविशेषभावानुपपत्तेः भेदाभेदौ त्वेकस्मिन्न प्रमाणिकौ वस्तुनो द्वैरूप्यानुपपत्तेः। अभेदपक्षे तु कयाचिद् भेदकल्पनया सामान्यविशेषव्यवहारोपपत्तेः समुद्रतरङ्गादिवज्जलतरङ्गचन्द्रादिवद्वा। तथा चाज्ञानस्यैकस्यैव सतः सामान्यविशेषभावेनैकत्वव्यवहारः श्रौतो न विरुध्यत इति।

अनुवाद––यह अज्ञान समष्टि (समूह) की दृष्टि से एक रूप में और व्यष्टि (इकाई) की दृष्टि से अनेक रूप में व्यवहृत होता है।

टिप्पणी–समष्टि–जो सबको व्याप्त करे वह समष्टि है और जिसकी व्याप्ति सीमित हो वह व्यष्टि है। 'अजामकाम्' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार अज्ञान एक है, अतएव वह समष्टिरूप से एक है; किन्तु 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार अज्ञान की अनेकता सिद्ध होती है, अतएव वह व्यष्टिरूप से अनेक है। सम् √ अश् (व्याप्तौ) + क्तिन् = समष्टिः। वि √ अश् + क्तिन् = व्यष्टिः।

तथाहि–यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः 'अजामेकाम्' इत्यादिश्रुतेः।

वि० म०–एतदेव दृष्टान्तैरुपपादयितुमुपक्रमते तथाहि इत्यादिना। 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्' (बृह० २।५।१८) 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' (ऋग्वेद ६।४७।१८)। बृहदारण्यकश्च (२।५।१९) इति मन्त्रद्वयानुसारेणाज्ञानतत्कार्यावच्छिन्नोऽज्ञानतत्कार्यप्रतिबिम्बितो वा चिदात्मा जीवेश्वरभावं भजत इति मतद्वयमुपरुध्य दृष्टान्तद्वयोपादानमिति सर्वत्र वनवृक्षजलाशयजलकीर्तनाभिप्रायो बोद्धव्यः।

नानात्वेन इत्यादेरयमर्थः अज्ञानं किं ब्रह्मनिष्ठमुत जीवनिष्ठम्। नाद्यो नित्यशुद्धादिस्वभावविरोधात्। न द्वितीयोऽन्योन्याश्रयात्। तथाहि। अज्ञानमित्युक्ते कस्य किंविषयमित्याश्रयविषयसापेक्षताप्रतीतेर्न निराश्रयमज्ञानमस्तीति प्रतिपत्तुं शक्यम् तस्य च जीवाश्रयत्वे जीवभावस्याप्यज्ञानाधीनत्वात्सिद्धे जीवभावेऽज्ञानस्य साश्रयत्व-

सिद्धिस्तत्सिद्धौ च जीवत्वसिद्धिरिति कथं नान्योन्याश्रयः । नन्वनादित्वादज्ञानजीवभावप्रवाहस्य बीजाङ्कुरवन्नान्योन्याश्रय इति चेन्मैवम् क्रमभाव्यनेकबीजाङ्कुरव्यक्तिवदनेकाज्ञानजीवव्यक्तीनां सत्त्वे प्रमाणाभावात् । ननु 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति (छा० ६।८।१) 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृह० १।४।७) इत्यादि श्रुतिभ्यः सुषुप्तिप्रलययोर्जीवस्य परमात्मैकभावापत्तिश्रवणात् पुनः प्रबोधसर्गयोर्जीवभावापत्तेरवगम्यमानत्वाच्च तदा तद्विभागहेतोः संस्काररूपस्याज्ञानस्यापि कल्प्यमानत्वात्कथं न बीजाङ्कुरन्यायः प्रामाणिक इति चेत्किमिदानीं सुषुप्त्यादिकाले जीवस्य जीवत्वं नास्तीति विवक्षितम् । हन्त तर्हि कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गो मुक्तानामपि संसारत्वप्रसङ्गश्च दुर्वारः स्यादविशेषात् । किञ्च सुषुप्त्यादावज्ञानसद्भावे तस्य ब्रह्माश्रितत्वप्रसङ्गोऽसद्भावे सुप्तानां पुनरुत्थानप्रसङ्गः । 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा' (छा० ६।९।२) इत्यादिसत्सम्पत्तिवाक्यशेषासङ्गतिप्रसङ्गश्चेत्यसमञ्जसमेतत् । अथाज्ञानजीवयोः स्वरूपेणैवानादितयाश्रयाश्रयिभावस्य नित्यसिद्धत्वान्नान्योन्याश्रय इति मतं तदपि न ब्रह्मण्यज्ञानाभावप्रसङ्गात् । नायमिष्टप्रसङ्गः 'सोऽकामयत' (तैत्ति० २।६।१) 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तैत्ति० २।७।१) इत्यादि श्रुतिभिर्ब्रह्मणि जगत्कारणे कामयितृत्वादेरज्ञानकार्यस्य श्रूयमाणत्वात् । न च दृष्टिगतपीतिम्नः शङ्खे समारोपवज्जीवगताज्ञानविक्षेपस्य कामयितृत्वादेस्तद्विषये ब्रह्मणि समारोपः श्रुत्या कीर्त्यत इति वाच्ये तथा सति जीवानामेव जगत्सर्गस्थितिलयोपादानत्वात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा० ३।१४।१) इत्यादि ब्रह्मसामानाधिकरण्यं जगतः श्रूयमाणमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं च पीड्येत । जीवस्य ब्रह्माभेदात् सर्वमेतोपपद्यत इति न कश्चिद्दोष इति चेत्तर्हि जीवपक्षपातं परित्यज्य ब्रह्मण एव जगत्स्रष्टृत्वादि यथाश्रुतं स्वीकर्तव्यम् । विना तस्याज्ञानाश्रयत्वं कूटस्थस्य न कामयितृत्वादीःयुक्तं तस्य च जीवाद्विभक्तस्यात्राज्ञानाश्रयत्वे तत्रापि स्यादन्योन्याश्रयः । ननु ब्रह्मणि जगत्कारणत्वादिनिर्वाहकमज्ञानं मायाशब्दवाच्यमन्यदेव जीवगतकर्तृत्वाद्यवभासहेतुभ्योऽज्ञानेभ्योऽविद्याशब्दवाच्येभ्य इति चेन्न मायाविद्ययोः श्रुतिस्मृतिसूत्राभियुक्तवचनैरेकत्वस्य वृद्धैर्निरूपितत्वात् । अनिर्वचनीयत्वे सति तत्त्वावभासप्रतिबन्धविपर्ययावभासहेतुत्वस्य लक्षणस्य तुल्यत्वादविद्याभेदे न कल्पनागौरवदोषात् । एकविद्यापक्षेऽप्यनन्तविक्षेपशक्तिकल्पनया जाग्रत्स्वप्नबन्धमोक्षरसनाभुजङ्गादिव्यवहारव्यवस्थोपपत्तेः । न चात्रापि कल्पनागौरवं समानं धर्मिभेदकल्पनातो धर्मभेदकल्पने लाघवात् । इत्यास्तां विस्तरः ।

अतश्चिन्मात्रनिष्ठमज्ञानं तच्च जीवब्रह्मविभागहेतुर्ब्रह्मणो जगत्स्रष्टृत्वादेर्जीवस्य कर्तृत्वादेश्च हेतुरित्यङ्गीकर्तव्यम् । न च चिन्मात्रस्य स्वप्रकाशत्वादज्ञानानाश्रयत्वविरोधः जीवपक्षेऽपि तुल्यत्वादन्तःकरणपरिणामोपहितस्यैव चैतन्यस्याज्ञानविरोधित्वात् । न च ज्ञानवदज्ञानस्याप्येकाश्रयविषयत्वानुपपत्तिरावरकत्वेनापवरकस्य तमोवत्तदुपपत्तेः तदुक्तमभियुक्तैः—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला ।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ।

(इति संक्षे० शा० १।३१९)

तस्मादेकमज्ञानं चिन्मात्राश्रयविषयमिति स्थिते जीवावस्थायामेवाहमज्ञ इति स्फुटतरव्यवहारात्तदपेक्षया जीवगताज्ञाननामित्युक्तमिति । अनयैव दिशा-

'जीवाश्रया ब्रह्मपदा ह्यविद्या तत्त्वविन्मता' । (वेद० सिद्धा० मुक्तावली)

इति प्राचां वचनं योजनीयम् ।

ननु नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवानामेकाज्ञानोपाधिकत्वएकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसंग इति चेन्नायं दोष एकस्येव जीवत्वादितरेषां तद्दृष्टिविजृम्भितत्वेन ततोऽनतिरेकात् । तर्हि कोऽसौ जीवो यद्दृष्टिविजृम्भितं जीवान्तरमिति चेद्यः पश्यति स एव । अहं तु संसारिणमात्मानमन्यांश्च मद्विधान् जीवान् पश्यामीति चेत्तर्हि त्वमेव जीवस्त्वविद्यया वयमन्ये च जीवा बद्धा मुक्ताः सुखिनो दुःखिन इत्येव विचित्राः कल्पितास्तवाब्रह्मसाक्षात्कारमविसंवादिताः प्रतिभासन्ते स्वप्न इव प्रबोधे । जाने तु ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे सर्वमेव त्वद्दृष्टिविजृम्भितं त्वया सह मोक्ष्यते त्वत्सुषुप्ताविवेति । इयांस्तु पुनर्विशेषः । सुषुप्त्यावस्त्यज्ञानं सर्वकार्यसंस्काररञ्जितं पुनर्व्यवहारप्रवर्तकं मुक्तौ तु तस्य ज्ञानेन बाधितत्वात् पुनर्व्यवहाराभावः । इत्यलं प्रसङ्गागतप्रपञ्चेन । वनवृक्षयोर्जलाशयजलयोर्वा सामान्यविशेषभावो नास्तीति, यद्यपि दार्ष्टान्तिकेन वैषम्यं तथापि समुदायसमुदायिनोरेकत्वे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यात् सर्वांशेन च साम्यस्याविवक्षितत्वान्न कश्चिद्दोष इति गमयितव्यम् । अज्ञानैकत्वव्यपदेशिनीं श्रुतिं पठति अजामेकाम् इति । आदिपदात् 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' 'तरत्यविद्यां विततां, 'अक्षरात् परतः परः मुण्ड (२।१।२) 'तद्धेद तर्ह्यव्याकृतं' (बृह० १।४।७) 'तम असीत्तमसा गूढं' (ऋक्संहिता १०।१२९।३ इत्याद्येकवचनान्तश्रुत्यन्तरग्रहः ।

अनुवाद—जैसे कि कई वृक्षों के समूह या समष्टि को एक वन कहा जाता है अथवा कई जलों के मेल को एक जलाशय कहा जाता है, उसी तरह अनेक संख्या में प्रतीयमान जीवस्थित अज्ञानों के समूह के लिए 'अज्ञान' यह एक ही शब्द व्यवहृत होता है (तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक वन कई वृक्षों में विभक्त है, उसी प्रकार एक ही अज्ञान पृथक्-पृथक् जीवों में प्रतीयमान हो रहा है, इस दृष्टि से अज्ञान एक है) क्योंकि 'अजामेकाम्' इन श्रुतिवाक्य में अज्ञान (अविद्या-माया) को एक ही कहा गया है।

टिप्पणी-(१) समष्ट्यभिप्रायेण-समष्टि के तात्पर्य से (२) एकत्वव्यपदेशः-एक होने का मुख्य व्यवहार । अर्थात् वृक्षों के समूह के तात्पर्य से 'वन' एक ही है इस प्रकार का व्यवहार होता है। (३) जलानां समष्ट्यभिप्रायेण-(नदी, तालाब इत्यादि के भिन्न-भिन्न) जलों के अथवा जलकणों के समूह के अभिप्राय से । नानात्वेन प्रतिभासमानानाम्-भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए ।

इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना । एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात् 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति श्रुतेः ।

वि० म०–ऐकमेवाज्ञानं समष्टिव्यष्टिभेदभिन्नं परिकल्प्य समष्ट्यज्ञानोपधातनिबन्धनं चैतन्यव्यवहारं वक्तुं समष्टिं विशिनष्टि इयम् इति। उत्कृष्टस्योपाध्यन्तराननुरक्ततयाप्रतिहतज्ञानात्मकस्य चैतन्यस्योपाधितया विशुद्धं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा तथाविधेयं समष्टिरित्यर्थः। समष्ट्यज्ञानोपहितचैतन्यस्य व्यपदेशभेदंदर्शयति एतदिति। परमार्थतोऽसङ्गस्यापि चैतन्यस्याध्यासिकसम्बन्धसम्बद्धाज्ञानद्वारा सर्वावभासकत्वेन सर्वमर्यादाधारक सत्तारूपत्वेन सर्वजीवप्रवर्तकत्वेन च लब्धसर्वज्ञत्वादिगुणकस्य सदव्यक्तमन्तर्यामीश्वर इत्यादि व्यपदेशो भवतीत्यर्थः। उक्तेऽर्थे हेतुमाह सकलेति। सकलाज्ञानं समष्ट्यज्ञानम्। अवभासकत्वशब्दो विधारकत्वादेरप्युपलक्षणार्थः। सर्वविक्षेपसंस्कारत्वादज्ञानस्य सत्कार्यवादाश्रयणाच्चाव्याकृताद्यवस्थास्वपि समष्ट्यज्ञानस्य सर्वत्वनिति द्रष्टव्यम्। उक्तव्यपदेशिकां श्रुतिमाह यः सर्वज्ञ इति। सर्वज्ञः सामान्यतः सर्वविद्विशेषत इति भेदः। आदिशब्दात् 'सदेव सौम्येदम्' (छा० ६।२।१) 'एष सेतुर्विधरणः' (बृह० ४।४।२२) 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृह० ३।७।३) 'महतः परमव्यक्तम्' (कठ० ३।११) 'यतो वा इमानि' (तैत्ति० ३।१) 'यः परः स महेश्वरः' (महाना० १०।८) इत्यादि श्रुत्यन्तरग्रहः।

अनुवाद– (अज्ञान की) यह समष्टि (अर्थात् समूहगत अज्ञान) उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण विशुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता से युक्त है। (इस उत्कृष्ट उपाधि) से युक्त चैतन्य को ईश्वर कहते हैं, जो (ईश्वर) सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्व तथा सर्वनियन्तृत्व आदि गुणों से युक्त, अव्यक्त, अन्तर्यामी और संसार का कारण कहा जाता है। क्योंकि वह समष्टिगत अज्ञान को प्रकाशित करता है। श्रुति (मुण्ड० १।१।९) ने भी उसे सर्वज्ञ और सर्ववित् कहा है।

टिप्पणी–(१) **उत्कृष्टोपाधितया**—महान् उपाधि होने के कारण। उप √ धा + कि = उपाधिः 'अन्यथास्थितस्य वस्तुनः अन्यथाप्रकाशनहेतुरुपाधिः।' अर्थात् जब कोई वस्तु अपने स्वरूप से भिन्न रूप में प्रतीत हो तो भिन्न रूप में प्रतीत कराने वाले हेतु को उपाधि कहते हैं। जैसे रस्सी में साँप की प्रतीति होती है। इस प्रतीति को कराने वाला हेतु है अज्ञान। अतः यहाँ अज्ञान उपाधि है। इसी प्रकार ब्रह्म जब ईश्वर के रूप में प्रतीत होता है तो उस प्रतीति का हेतु है समष्टिगत अज्ञान, अतः समष्टिगत अज्ञान ईश्वर की उपाधि है। जीव की उपाधि व्यष्टिगत अज्ञान है। (२) **विशुद्धसत्त्वप्रधाना**– रजोगुण और तमोगुण से अनभिभूत (न दबे हुए) सत्त्वगुण की प्रधानता वाली। विशुद्धं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा विशुद्धसत्त्वप्रधाना (बहुव्रीहि)। यहाँ ध्यान रहे कि ईश्वर स्थित माया (अज्ञान) में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है और उस सत्त्वगुण के सामने रजस् और तमस् गुण दबे रहते हैं, किन्तु ये दोनों बिलकुल नहीं रहते हैं, ऐसी बात नहीं है।

(३) **एतदुपहितम्** – इस उपाधि से युक्त। अर्थात् समष्टिगत अज्ञान की उत्कृष्ट उपाधि से युक्त। उप √ धा + क्त, धा इत्यस्य स्थाने 'दधातेर्हिः इति सूत्रेण हि आदेशः = उपहितम्। (४) **चैतन्यम्**—परमात्मा। (५) **सर्वज्ञत्वम्**–ईश्वर की

सर्वज्ञता प्रतिपादक अनेक श्रुतियाँ हैं। उनमें मुण्डकोपनिषद् से एक प्रमाण उपन्यस्त किया जा रहा है—'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः तस्मादेतद् ब्रह्मनाम रूपमन्नं च जायते ॥' (सर्वं जानातीति सर्वज्ञः सर्व √ ज्ञा + क, सर्वज्ञस्य भावः सर्वज्ञत्वम्) सर्वज्ञत्वम् सर्वज्ञ + त्व। ईश्वर चराचरात्मक सम्पूर्ण जगत् का साक्षी है तथा सामान्य रूप से सब कुछ जानता है, इसलिए सर्वज्ञ कहलाता है। (६) **सर्वेश्वरत्वम्**—सर्वस्य ईष्टे इति सर्वेश्वरः, तस्य भावः सर्वेश्वरत्वम्। समस्त जीवों को कर्मानुरूप फल देने के कारण ईश्वर सर्वेश्वर कहलाता है। (७) **सर्वनियन्तृत्वम्**—सर्वान् नियच्छति इति सर्वनियन्ता, तस्य भावः सर्वनियन्तृत्वम्। ईश्वर सबके अन्तःकरण में स्थिर होकर बुद्धि का नियमन करने के कारण सर्वनियन्ता कहलाता है। (८) **सर्ववित्**—विशेष रूप से सब कुछ जाननेवाला।

ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।

वि० म०—उपहितस्य व्यपदेशमुक्त्वोपाधेरपि तं सहेतुकमाह अस्येयम् इति। अज्ञानमिदंशब्दार्थः आनन्दप्रचुरत्वमुपहितधर्मः आच्छादकत्वमज्ञानधर्मः। तदुभयाविवेकात्कारणमज्ञानमानन्दमयकोश इत्यर्थः। सर्व आकाशादय उपरमन्तेऽस्मिन्निति सर्वोपरमोऽज्ञानम्। तादृग्भावात्सुषुप्तिर्महासुषुप्तिः प्रलय इति यावत् सतः। सर्वोपरमत्वमत एवेति योजना। स्थूलप्रपञ्चो विराट्सूक्ष्मप्रपञ्चो हिरण्यगर्भः।

अनुवाद—ईश्वर की यह समष्टि (समूहोपाधि) सबका कारण होने के कारण कारणशरीर, आनन्द की प्रचुरता एवं कोश के समान (आत्मा को) ढके रहने के कारण आनन्दमयकोश तथा सबका उपराम (अर्थात् इसी में सृष्टि-प्रपञ्च का लय) होने के कारण सुषुप्ति और अतएव स्थूल व सूक्ष्म जगत्प्रपञ्च का लय स्थान भी कहलाती है।

टिप्पणी (१) **कारणशरीरम्**—अन्य दर्शनों में स्थल तथा सूक्ष्म—ये दो प्रकार के शरीर माने गये हैं किन्तु वेदान्तदर्शन में इन दोनों शरीरों का विलय-स्थान कारणशरीर भी माना जाता है। (२) **आनन्दमयकोशः**—कारणशरीर या समष्टिभूत अज्ञान में आनन्द की प्रचुरता रहती है और यह समष्टिभूत अज्ञान आत्मा को कोश की तरह ढक लेता है, अतएव इसे आनन्दमयकोश कहते हैं। वैसे वेदान्त में पाँच कोश माने जाते हैं—आनन्दमय, मनोमय, विज्ञानमय, प्राणमय तया अन्नमय। (३) **सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिः**—भाव यह है कि समष्टिभूत अज्ञान् में जाग्रत् अवस्थाविशिष्ट पञ्चीभूत भूतों के कार्यस्वरूप स्थूलप्रपञ्च का तथा स्वप्नावस्थाविशिष्ट अपञ्चीकृत भूतों के कार्यस्वरूप सूक्ष्मस्वप्नप्रपञ्च का लय हो जाने के कारण इसे सुषुप्ति कहते हैं और इसी कारण इसे स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थान भी कहते हैं। इन सबकी व्याख्या आगे की गई है।

५ प्राज्ञः

यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा

वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण जलानीति तथाज्ञानस्य व्यष्ट्य भिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत्' इत्यादिश्रुतेः।

वि० म०—एवं समष्ट्यज्ञानं साभासं सव्यपदेशं निरूप्य व्यष्ट्यज्ञानमपि सदृष्टान्तं तथा निरूपयति यथा वनस्य इत्यादिना। क्वैवमनेकत्वव्यपदेशोऽज्ञानस्येति तदाह इन्द्र इति। इन्द्रः परमेश्वरः प्रकरणात्। स मायाभिर्माय विक्षेपशक्तिभिर्विक्षिप्तेषु देहेन्द्रियान्तःकरणेषु प्रतिबिम्बितः पुरुरूपो बहुरूपः सन्नीयते प्रकाशत इति श्रुत्यर्थः। आदिशब्दात् 'य एको जालवानीशत ईशिनीभिः' (श्वेत ३।१) इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः।

अनुवाद—जैसे वन को व्यष्टि की दृष्टि से 'वृक्षाः' इस प्रकार अनेकसंख्या से युक्त करके व्यवहृत किया जाता है अथवा जैसे जलाशय को व्यष्टि की दृष्टि से 'जलानि' इस प्रकार बहुत्वयुक्त करके व्यवहृत करते हैं, उसी प्रकार अज्ञान में व्यष्टि की दृष्टि से अनेकत्व का व्यवहार किया जाता है। क्योंकि श्रुति कहती है—'इन्द्र (ईश्वर) मायाओं (अज्ञानों) के कारण बहुरूपवान् भासित होता है' (ऋ० ६।४७।१८)।

टिप्पणी—यथा वनस्य—भाव यह है कि जैसे बहुत से वृक्षों को जब सामूहिक रूप में कहना चाहते हैं तो उन सबको वन कहते हैं परन्तु जब एक एक को पृथक् पृथक् रूप में कहना चाहते हैं तो आम, जामुन, कटहल इत्यादि भिन्न-भिन्न वृक्षों के नामों से व्यवहृत करते हैं अथवा जिस प्रकार सभी कुएँ, तालाब आदि में जल एक ही है, अतः जल का बोध कराने के लिए सबको जलाशय कहकर उन सब में सामूहिक रूप से एकत्व का व्यवहार करते हैं, पर अलग-अलग बोध कराने के लिए कुआँ, तालाब आदि-भिन्न भिन्न नामों से अभिहित करके उनमें बहुत्व का व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच के कारणभूत अज्ञान में समष्टिरूप से 'अज्ञान' इस प्रकार एकत्व का व्यवहार करते हैं, किन्तु जीवगत अहंकार आदि के कारणभूत अज्ञान में व्यष्टिरूप से 'अनेक अज्ञान' इस प्रकार अनेकत्व का व्यवहार करते है। यहाँ 'वन-वृक्ष' और 'जलाशय-जल' दो दृष्टान्त दिये गये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म द्वारा समष्टिभूत अज्ञान और व्यष्टिभूत अज्ञान रूप उपाधियों से युक्त होकर ईश्वरभाव और जीवभाव को प्राप्त होने पर उसका उन उपाधियों से सम्बन्ध होता है। उस सम्बन्ध का स्वरूप जानने के लिए दो कल्पनायें की जाती हैं—ब्रह्म अज्ञान तथा उसके कार्यों से (१) अवच्छेद-पूर्ण है, (२) उनमें प्रतिबिम्बित है। अवच्छिन्न मानने पर 'वन-वृक्ष' का और प्रतिबिम्बित मानने पर 'जलाशय-जल' का दृष्टान्त समझना चाहिए।

अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः। इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्य-मल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते, एकाज्ञानाभास-कत्वात्। अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयाऽनतिप्रकाशकत्वात्।

वि० म०—एकस्मिन्नज्ञाने व्यष्टिसमष्टिशब्दप्रयोगे निमित्तमाह **अत्रेति** । अज्ञानं सप्तम्यर्थः । व्यस्तव्यापित्वेन कार्योपाधिजीवव्यापित्वावभासेन व्यष्टिताव्यपदेशः । समस्तव्यापित्वेन कारणोपाधिसर्वज्ञाविभक्तसर्वव्यापित्वेन समष्टिताव्यपदेशेन इत्यर्थः ।

निकृष्टोपाधितया—इति । ज्ञानप्रतिबन्धकावरणवान् जीवो निकृष्टस्तस्योपाधितयेत्यर्थः । मलिनं रजस्तमोभ्यामभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा यथा । रजस्तमसोः स्वातन्त्र्येण प्रतिबिम्बोदग्राहकत्वायोगादिति भावः ।

एतदुपहितं—व्यष्ट्यज्ञानोपहितम् । **एकाज्ञानावभासकत्वात्** । अज्ञानैकदेशावभासकत्वादिति यावत् ।

व्यष्ट्यज्ञानोपहितस्य प्राज्ञशब्दवाच्यत्वे कारणमाह **अस्येति** । अस्य जीवस्यास्पष्टोपाधितया रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्वप्रधानव्यष्ट्यज्ञानोपाधिकत्वेन हेतुनातिप्रकाशकत्वाभावात् प्राज्ञशब्दवाच्यत्वमित्यर्थः । प्रायेणाज्ञः प्राज्ञ इत्युक्तं भवति ।

अनुवाद—यहाँ अज्ञान के व्यस्त या सीमित रूप में व्याप्त होने के कारण व्यष्टिगत तथा समस्त रूप में व्याप्त होने के कारण समष्टिगत का व्यवहार किया जाता है। (अज्ञान) की यह व्यष्टि निकृष्ट उपाधि होने के कारण मलिन (अर्थात् रजोगुण तथा तमोगुण से अभिभूत) सत्त्वगुण की प्रधानता से युक्त होती है। इस (निकृष्ट) उपाधि से युक्त चैतन्य एक ही अज्ञान का प्रकाशक होने के कारण अल्पज्ञत्व, अनीश्वरत्व आदि गुणों से युक्त प्राज्ञ (प्रकृष्टेन अज्ञ) कहा जाता है। इसकी उपाधि (व्यष्टिगत अज्ञान) के अस्पष्ट (मलिनसत्वप्रधान) होने के कारण तथा अत्यन्त प्रकाशक न होने के कारण इसका प्राज्ञत्व (प्रकर्षेण अज्ञत्व) सिद्ध होता है।

टिप्पणी—(१) **निकृष्टोपाधितया**—तात्पर्य यह है व्यष्टि अज्ञान जीव की उपाधि है और समष्टि अज्ञान ईश्वर की। जीव की उपाधि निकृष्ट इसलिए है कि वह स्वयं ईश्वर से निकृष्ट है; क्योंकि ईश्वर अज्ञानोपाधि का स्वामी होने के कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है और जीव अज्ञानोपाधि (माया) के अधीन होने से अल्पज्ञ, अल्पसामर्थ्यवान् है। पञ्चदशीकार ने भी लिखा है—'मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः। अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद् वैचित्र्यादनेकधा ॥'

मलिनसत्त्वप्रधाना—जीव की उपाधि व्यष्टि रूप अज्ञान में रज-तम से अभिभूत मलिन सत्त्व की प्रधानता है। (३) **प्राज्ञः**--बड़ा अज्ञानी। प्रकर्षेण प्रायेण वा अज्ञः प्रज्ञः (प्रादिसमास)। वैसे अन्यत्र प्राज्ञ का अर्थ पण्डित होता है। प्रकर्षेण जानातीति प्राज्ञः प्र√ज्ञा+क=प्राज्ञः। प्रज्ञ एव प्राज्ञः प्रज्ञ+अण् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इत्यनेन। किन्तु यहाँ अल्पज्ञत्व, अनीश्वरत्व आदि गुण वाले जीव के लिए प्रकृष्ट अज्ञ कथन ही विवक्षित है। (४) **एकज्ञानावभासकत्वात्**—अज्ञान के एक ही अंश का (भिन्न-भिन्न जीवगत अलग-अलग अज्ञान का) प्रकाशन होने के कारण अर्थात् निकृष्टोपाधि होने के कारण (सर्वं जानाति सर्वं नियच्छति' इत्यादि विशेषताओं के न होने के कारण)। (५) **अस्पष्टोपाधितया**···व्यष्टिगत अज्ञान अस्पष्ट (मलिनसत्त्वप्रधान) होने के कारण। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि रजस्-तमस् के द्वारा सत्त्वगुण के पराभूत हो जाने के

कारण व्यष्टिगत अज्ञान अस्पष्ट होता है। अतएव जैसे धूलि आदि से अस्वच्छ दर्पण में सूर्य का बिम्ब स्पष्ट रूप से नहीं पड़ता है और अतएव वह अधिक प्रकाशक नहीं होता है उसी तरह उपाधिभूत मलिन अज्ञान में चिदात्मा रूपी सूर्य का बिम्ब अस्पष्ट रूप से पड़ने के कारण अधिक प्रकाशक नहीं होता है। इसलिये उसे प्राज्ञ कहा जाता है। चिदात्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट न होने के कारण उसे चिदाभास भी कहते हैं।

अस्यापीदमहङ्कारादिकारणत्वात् कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।

वि०—म०—पूर्वदुपपहितस्य व्यपदेशमुक्त्वोपाधेरप्याह अस्यापीति। अपिशब्द ईश्वरोपाधिदृष्टान्तार्थः। अहङ्कारादेः सुषुप्त्याद्यवस्थायां संस्कारावशेषेण स्थितस्य कारणत्वादित्यर्थः। आनन्दप्रचुरत्वादेवेत्येवकारः कोशवदाच्छादकत्वादिति हेत्वन्तरसमुच्चयार्थः। यद्वा आनन्दप्रचुरत्वाद्धेतोरेवेति भिन्नक्रमः। तस्मिन् पक्षे कोशवदाच्छादकादित्यनुषञ्जनीयम। सर्वशब्दो जाग्रत्स्वप्नविषयः शेषमतिरोहितार्थम्।

अनुवाद—इस प्राज्ञ (जीव) की यह उपाधि (व्यष्टिगत अज्ञान) भी अहंकार आदि का कारण होने के कारण कारणशरीर, आनन्द की अधिकता तथा चैतन्य को कोश के समान आच्छादित किये रहने के कारण आनन्दमयकोश, (इसमें) सबका उपराम होने के कारण सुषुप्ति और स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर प्रपञ्च के लीन होने का आधार होने के कारण स्थूल-सूक्ष्म-प्रपञ्च का लय स्थान भी कहलाती है।

टिप्पणी-अहङ्कारादिकारणत्वात्···भाव यह है कि प्राज्ञ चैतन्यगत अज्ञान भी सुषुप्तिकाल में अहंकारादि शरीर का उत्पादक होने से कारणशरीर है। सुषुप्तिकाल में इन्द्रियाँ या उनके विषय नहीं रहते, अतः कोई आसक्ति न होने के कारण आनन्दबाहुल्य होने से आनन्दमय है तथा प्राज्ञ चैतन्य का आच्छादक होने से कोश है, स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के लय का आधार होने के कारण स्थूलसूक्ष्मशरीरलयस्थान है और सबका उपराम-स्थल होने से सुषुप्ति है अर्थात् पंचीकृत स्थूल शरीर (व्यावहारिक सत्ता) अपंचीकृत सूक्ष्म शरीर (प्रतिभासिक सत्ता) में विलीन हो जाता है, पश्चात् उस प्रातिभासिक सत्ता (स्वप्नप्रपञ्च) के भी अपने कारणभूत अज्ञान में लीन हो जाने के कारण सर्वोपरति हो जाती है। इस तरह का कथन वाक्यसुधा में भी पाया जाता है-'लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरङ्गके। तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते तथा पुरा॥ व्यावहारिकजीवस्य लयः स्यात्प्रातिभासिके। तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि॥' अर्थात् जैसे फेन क्रमशः जल में मिलकर शुद्ध जल के रूप में रह जाता है, वैसे व्यावहारिकसत्ता एवं प्रातिभासिकसत्ता के भी विलीन हो जाने पर शुद्ध चैतन्यांशमात्र अवशिष्ट रह जाता है।

६. ईश्वर प्राज्ञयोः आनन्दानुभवः

तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवतः 'आनन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञः' इति श्रुतेः 'सुखमहमस्वाप्सं नाहं किञ्चिदवेदिषम्' इत्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च । अनयोः समष्टिव्यष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाऽभेदः । एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशयजलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाऽभेदः 'एष सर्वेश्वर' इत्यादि श्रुतेः ।

वि० म०—'सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इत्यादि श्रुतेः सुषुप्तौ प्राज्ञस्येश्वरसम्पत्त्यममात्प्राज्ञेश्वरयोरैकत्वम् तदवस्थयोरप्यव्याकृतसुषुप्तयोरेकत्वं सिद्धवत्कृत्यानयोस्तदवस्थापन्नं भोगं दर्शयति तदानीम् इति । तयोरप्यवस्थयोर्जीवावच्छेदकस्य व्यष्ट्यज्ञानस्य केनापि रूपेण स्थितत्वादेनावित्यादिद्विवचनोपादान सर्वात्मनैक्ये पुनरुत्थानानुपपत्तेः । आनन्दं स्वरूपानन्दमनुभवतः । आनन्दशब्दो ऽज्ञानतत्साक्षिणोरप्युपलक्षणपरः तदानीमखण्डात्मस्वरूपचैतन्येनैवानन्दाद्यनुभवे ऽभ्युपगम्यमाने स्वरूपस्य नित्यत्वात्तज्जन्यसंस्काराभावेनावस्थान्तरे स्मरणरूपपरामर्शानुपपत्तेस्तदनुकूलमुपाधि—विशेषं कल्पयति अज्ञानवृत्तिभिरिति । अन्तःकरणादेरप्यज्ञानकार्यत्वेन तदात्मकत्वात्तदभिप्रायो ऽज्ञानशब्दो मा भूदिति विशिनष्टि अतिसूक्ष्माभिरिति । दुर्लक्ष्यत्वमतिसूक्ष्मत्वम् । तासां वृत्तीनां जडत्वात्कथं ताभिरानन्दाद्यनुभव इत्यत आह चैतन्येति । तथा च वृत्तिविनाशात्तद्विशिष्टचैतन्यस्यापि विनाशात्संस्कारजन्यं स्मरणमवस्थान्तरे सम्भवतीति भावः । तत्र प्रमाणमाह आनन्दभुक् इति । चेतोमुखश्चैतन्यदीप्ताज्ञानवृत्तिप्रधानः । आदिशब्दात्—

'सुषुप्तिकाले सकले विलीने
तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ।' (कैवल्य० १३)

इत्यादि श्रुत्यन्तरग्रहः । तत्रैवानुभवमति प्रमाणयपि सुखमिति । ना चायं सुखपरामर्शो दुःखाभावविषयस्तस्य तत्राननुभूतत्वात्तदनुभवसामग्र्याश्च निरूपयितुमशक्यत्वात् । विस्तृतं चैतद्वृद्धैरित्युपरम्यते सङ्ग्रहाधिकारात् । उक्तोपाध्योस्तदुपहितयोश्च प्राक्सिद्धवत्कृतमभेदं विशदयति अनयोरिति । प्राज्ञेश्वरयोरभेदे श्रुतिं प्रमाणयति एष सर्वेश्वर इति । आदिपदात् 'अथ एष य सम्प्रसादो ऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' (छान्दो ८।३।४) इत्यादि श्रुत्यन्तरग्रहः ।

अनुवाद—उस समय (प्रलय और सुषुप्ति के समय) ईश्वर और प्राज्ञ (जीव) चैतन्य से प्रदीप्त अत्यन्त सूक्ष्म अज्ञानवृत्तियों से आनन्द का अनुभव करते हैं । जैसा कि श्रुति (माण्डू० ५) कहती है कि—प्राज्ञ चेतोमुख (अर्थात् चैतन्य से दीप्त अज्ञान वृत्ति

से मुक्त) होकर आनन्द को भोगता है। और इसी से 'मैं सुखपूर्वक सोया, मुझे कुछ ज्ञात नहीं रहा' ऐसा सोकर उठे हुए पुरुष का वाक्य उत्पन्न होता है (अर्थात् प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में आनन्दपूर्वक सोने के उपरान्त जगने पर मनुष्य जो यह कहता है कि 'मैं सुखपूर्वक सोया' इस अनुभव से सुषुप्ति में आनन्द के अस्तित्व का पता चलता है और 'मुझे कुछ ज्ञात नहीं रहा' इस अनुभव से अज्ञान के अस्तित्व का भी पता चलता है)।

समष्टि और व्यष्टिरूप अज्ञानोपाधियों में उसी प्रकार अभेद (ऐक्य) है जिस प्रकार वन और वृक्ष में या जल और जलाशय में (अर्थात् जैसे वृक्षों से वन बनता है, वन वृक्षों से अलग कोई वस्तु नहीं है और जल की बूँदों से जलाशय बनता है, जलाशय उनसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार समष्टिगत अज्ञान की उपाधि तथा व्यष्टिगत अज्ञान की उपाधि इन दोनों में भी भेद नहीं है।

इन अज्ञानोपाधियों से युक्त ईश्वर और प्राज्ञ (जीव) में भी उसी प्रकार अभेद है जिस प्रकार वन से अवच्छिन्न आकाश तथा वृक्षों से अवच्छिन्न आकाश में और जल में प्रतिबिम्बित आकाश तथा जलाशय में प्रतिबिम्बित आकाश में अभेद है (अर्थात् जैसे वन से अवच्छिन्न आकाश तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश दोनों एक हैं और जलाशय में पड़ा किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब तथा जल की बूँद में पड़ा उसका प्रतिबिम्ब—ये दोनों भी एक ही हैं, उसी तरह समष्टिगत अज्ञान से उपहित ईश्वर तथा व्यष्टिगत अज्ञान से उपहित प्राज्ञ भी एक है) श्रुति भी आत्मा को 'एष सर्वेश्वरः' कहकर दोनों के अभेद को पुष्ट करती है। (माण्डूक्योपनिषद्)।

टिप्पणी—(१) **तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ**—इसका अवतरण इस प्रकार है—पहले कहा जा चुका है कि प्रलयकाल में ईश्वर तथा सुषुप्तिकाल में प्राज्ञ दोनों ही आनन्द का अनुभव करते है, इस पर प्रश्न उठता है कि प्रलय तथा सुषुप्ति के समय अन्तःकरण और उसकी वृत्तियाँ तो लीन हो जाती हैं फिर ईश्वर और प्राज्ञ आनन्द का अनुभव कैसे करते हैं। इसका उत्तर 'तदानीम्' वाक्य के द्वारा दिया गया है। अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति के समान चैतन्यप्रदीप्त अज्ञान की भी सूक्ष्म वृत्तियाँ होती हैं। उन्हीं के द्वारा ईश्वर और प्राज्ञ उस समय आनन्दानुभव करते हैं। (२) आनन्दभुक्—माण्डूक्योपनिषद् में इसका सम्पूर्ण वाक्य इस प्रकार आया है—'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः (चैतन्यदीप्ताज्ञानवृत्तिप्रधानः)।'

७. तुरीयचैतन्यम्

वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाऽधारभूतानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते

इत्यादिश्रुतेः । इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते ।

वि० म०--प्राज्ञेश्वरात्मकस्य चैतन्योपहितत्वेऽनुपहितं चैतन्यमन्यदेवेत्यर्थादुक्तेः किं तदित्यपेक्षायां तत्स्वरूपसंज्ञे दर्शयति वन इति । आधारश्चासावनुपहितश्चासावाकाशश्च स तथा तद्वदिति यावत् । तद्यप्याकाशस्य वनाश्रयत्वं जलाशयाश्रयत्वं वा नास्ति तदनारम्भकत्वात्तथाप्यवकाशमन्तरेण तयोः स्थित्यनुपपत्तेः तदाधारत्ववचनमिति द्रष्टव्यम् ।

अस्य चैतन्यस्य तुरीयत्वं वक्ष्यमाणविश्वाद्यपेक्षयेति द्रष्टव्यम् । तत्र प्रमाणमाह शिवमिति । आदिपदात्--

'त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ताभोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिव ॥' (कैवल्य० १८)

इत्यादि श्रुत्यन्तरग्रहः । अध्यारोपेण व्यासक्तचित्ततया प्रकरणार्थविस्मरणं मा भूदिति प्रसङ्गात्तमाह **इदमेवेति ।**

अनुवाद--जिस प्रकार वन और वृक्ष तथा उनसे अवच्छिन्न (सीमित) आकाश का एवम् जलाशय और जल तथा उनमें प्रतिबिम्बित आकाश का आधार उपाधि से रहित महाकाश है उसी प्रकार अज्ञान तथा उससे उपहित दोनों चैतन्यों (ईश्वर तथा प्राज्ञ) का आधार जो अज्ञान से अनुपहित चैतन्य है वह तुरीय (ब्रह्म) कहलाता है । क्योंकि श्रुति (माण्डू ७) कहती है--'शिव और अद्वैत (चैतन्य) को चतुर्थ (तुरीय चैतन्य) मानते हैं । जिस प्रकार लाल गर्म लोहे के टुकड़े को 'यह लोहा आग है' ऐसा कह दिया जाता है उसी प्रकार यही तुरीय शुद्ध चैतन्य अज्ञान आदि एवं उनसे उपहित दोनों चैतन्यों (ईश्वर और प्राज्ञ) से अपृथक् होने पर 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का वाच्य है और पृथक् होने पर लक्ष्य होता है । (अर्थात् अज्ञानोपहित पूर्वोक्त ईश्वर तथा प्राज्ञ चैतन्य एवं तुरीय चैतन्य की एकता ही 'तत्त्वमसि (वह परब्रह्म तुम ही हो)' इस महावाक्य का वाच्यार्थ है और प्राज्ञेश्वर चैतन्य की अपेक्षा तुरीय चैतन्य की भिन्नता उसका लक्ष्यार्थ है) ।

टिप्पणी--(१) **तुरीयम्**--चतुर्थ, विशुद्ध चैतन्य, परब्रह्म । चतुर्णां पूरणः इति चतुर्+छ--ईय, आद्यलोप, तुरीय+अच्=तुरीयम् । अविद्या, ईश्वर एवं प्राज्ञ से चौथा होने के कारण विशुद्ध चैतन्य को तुरीय कहते हैं अथवा प्राज्ञ, तैजस और विश्व की अपेक्षा चौथा होने के कारण यह तुरीय कहलाता है ।

शिवम्--विशुद्ध चैतन्य को शिव भी कहते हैं--'त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् । तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥' (कैवल्यउप०) ।

(२) **तप्तायः पिण्डवत्**=तपे हुए लोहे के लोंदे की तरह । भाव यह है कि अग्नि में तपे हुए लोहे के अत्यन्त लाल गोले में भार (वजन) आदि पार्थिवांश के रहते हुए भी

अग्नि के गुण—दाहकताशक्ति से सम्पन्न होने के कारण उसे अग्नि का गोला कहते हैं तथा उससे जल जाने पर लोहे का गोला जलाता है ऐसा व्यवहार करते हैं। यहाँ तप्त अयःपिण्ड का वाच्यार्थ होता है--अयः पिण्ड का अग्नि से अभिन्न प्रतीत होना, किन्तु अयःपिण्ड अग्नि नहीं हो सकता, अतः 'मुख्यार्थबाधे लक्षणा' के नियम से यहाँ लक्षणा करने पर लक्ष्यार्थ होता है--अग्नि का अयः पिण्ड से भिन्न प्रतीत होना। इसी तरह 'तत्त्वमसि' का वाच्यार्थ होता है--अज्ञानोपहित चैतन्य ईश्वर-प्राज्ञ तथा तुरीय विशुद्ध चैतन्य की अभिन्नता। परन्तु तुरीय चैतन्य अज्ञान् से उपहित नहीं हो सकता अतः मुख्यार्थ का बाधक हो जाने के कारण यहाँ लक्षणा करनी पड़ती है और तब लक्ष्यार्थ होता है-अज्ञानोपहित चैतन्य का शुद्ध चैतन्य से भिन्न प्रतीत होना।

८. अज्ञानस्यावरणविक्षेपशक्तिद्वयम्

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्। आवरण-शक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोक-यितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव, तथाऽज्ञानं परिच्छिन्न-मप्यात्मानकपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छा-दयतीव, तादृशं सामर्थ्यम्—तदुक्तम्

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं
यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।
तथा बद्धसद्भाति यो मूढदृष्टेः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा इति।

वि० म०--एवमवस्थामिमानिसहितमज्ञानं सविभागं सप्रपञ्चं निरूप्येदानीं तत्कार्याध्यारोपं क्रमेण निरूपयिष्यंस्तदुपयोगित्वेनाज्ञानगतं सामर्थ्यं तावन्निरूपयति **अस्याज्ञानस्य** इति। तत्रावरणशक्तिं सदृष्टान्तमुपपादयति **आवरणेति**। यद्यप्यज्ञानस्य मूर्तत्वामूर्तत्वाभ्यामनिर्वाच्यत्वान्न परिच्छिन्नत्वं तथापि परिच्छेद्यापेक्षयाल्पत्वमात्रं विवक्षितमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम्। बुद्धिपिधायकतयेत्यत्र बुद्धिशब्देन तदनु-रक्तं चैतन्यं लक्ष्यते बुद्धेरज्ञानकार्यत्वेन तदावृतत्वानुपपत्तेः निरूपितेऽर्थे हस्तामलका-चार्यसम्मतिमाह **तदुक्तमित्यादिना**।

अनुवाद--इस अज्ञान (माया) की आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियाँ हैं। जिस प्रकार एक छोटा-सा मेघ का टुकड़ा अनेक योजन तक विस्तृत सूर्य को, दर्शक के दृष्टि-मार्ग का अवरोधक बन जाने से ढक-सा लेता है, उसी प्रकार सीमित होता हुआ भी अज्ञान असीमित तथा असंसारी (संसार से परे) आत्मा (ब्रह्म) को, देखने वाले (जीव) की बुद्धि का अवरोधक बन जाने से आवृत-सा कर दता है, वैसी वह शक्ति है। (अर्थात् वस्तुतः अज्ञान आत्मा को नहीं ढकता, बल्कि वह जीव की

बुद्धि पर परदा डाल देता है, जिसके कारण वह आत्म-स्वरूप का दर्शन नहीं कर पाता है) । इसलिए (हस्तामलक १० में) कहा गया है—

'जिस प्रकार अत्यन्त मूर्ख व्यक्ति बादल से अपनी आँखों के ढक दिये जाने पर सूर्य को मेघाच्छादित तथा प्रभाहीन समझता है, उसी तरह मूढ दृष्टि वाले व्यक्ति को जो (आत्मा) जन्म-मरणादि-बन्धनों से बद्ध प्रतीत होता है वही नित्य एवं ज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ।'

टिप्पणी—(१) **आवरण**··· इसका अवतरण यह है कि यदि आत्मा स्वयं प्रकाश एवं चैतन्यस्वरूप है तो वह अपने स्वरूप को क्यों नहीं पहचान पाता ? और यदि वह आत्मा निरीह एवं असंगोदासीन है तो फिर इस आकाशादि प्रपंच को क्यों रचता है ? इन दोनों प्रश्नों का समाधान अज्ञान (माया) की दो शक्तियों के द्वारा किया गया है। वे शक्तियाँ हैं—(१) आवरण शक्ति, (२) विक्षेप शक्ति । इनका लक्षण—'सच्चिदानन्दस्वरूपम् आवृणोति इति आवरणशक्तिः' अर्थात् प्रमाता (जीव) की दृष्टि के आगे पर्दा डालकर सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप आत्मा को आवृत करने वाली शक्ति को आवरण शक्ति कहते हैं । ब्रह्मादिस्थावरान्तं जगत् जलबुद्बुदवत् नामरूपात्मकं विक्षिपति सृजतीति विक्षेपशक्तिः' अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सम्पूर्ण नामरूपात्मक संसार को जल के बुलबुले के समान पैदा करने वाली शक्ति विक्षेप शक्ति कहलाती है । 'दृग्दृश्यविवेक' में इन दोनों शक्तियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम् । विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत् ॥ अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः । आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ॥'

(२) **अच्छादयतीव**—मानो ढक लेता है अर्थात् वस्तुतः ढकता नहीं है किन्तु ऐसा आभास होता है कि वह आवृत है ।

अनयैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखमोहात्मकतुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते यथा स्वज्ञानावृतायां रज्जवां सर्पत्वसम्भावना ।

विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या, सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति, तादृशं सामर्थ्यम् । तदुक्तम्—

'विक्षेपशक्तिर्लिंगादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्' । इति ।

टि० म०—उक्तामावरणशक्तिं तत्कार्यद्वारा बुद्धिमारोहयति **अनयेति** । अधिष्ठानस्वरूपविशेषावरणवशेन विपरीतार्थसम्भावना भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह **यथा स्वाज्ञानेति** ।

विक्षेपशक्तिं सदृष्टान्तामाह **विक्षेपेति** । अत्राप्याचार्यान्तरसम्मतिमाह **तदुक्त**

विक्षेपेति । आवरणविक्षेपशक्तिद्वयविशिष्टमज्ञानं कूटस्थासङ्गाद्वयचैतन्यात्मनो जगत्कारणत्वोपाधिरिति भावः । तदुक्तमभियुक्तैः—

आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव ।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगादात्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन ॥ इति ।

(संक्षेपशा० १।२०)

अनुवाद—इसी आवरणशक्ति से आच्छन्न आत्मा का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख-दुःख, मोह रूप तुच्छ संसार की भावना भी उसी तरह संभावित होती है जैसे अपने अज्ञान से आवृत रस्सी में साँप की संभावना होती है।

विक्षेपशक्ति तो वह है— जैसे रस्सी विषयक अज्ञान अपने से आच्छादित रस्सी में अपनी शक्ति से सर्प आदि की उद्भावना कराती है उसी तरह (आत्मविषयक) अज्ञान भी अपने से आवृत आत्मा में विक्षेपशक्ति के कारण आकाश आदि प्रपंच की उद्भावना कराती है, वैसी (वह) शक्ति है। अतः (वाक्यसुधा १३ में) कहा गया है—

'विक्षेपशक्ति लिंग शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक (सम्पूर्ण) संसार की सृष्टि करती है।

टिप्पणी—(१) **अनयैवावरणशक्त्या**—कहने का तात्पर्य है कि आवरणशक्ति के कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता, इसीलिये वह वास्तव में शुद्ध चैतन्य, अकर्ता, भोक्ता होते हुए भी अपने आपको कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी समझता है। (२) **यथा रज्ज्वज्ञानम्**—भाव यह है कि जिस प्रकार रज्जुविषयक अज्ञान अपनी शक्ति से अज्ञानावृत रस्सी में सर्पत्व की भावना उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार आत्मविषयक अज्ञान अपनी शक्ति से अज्ञानावृत आत्मा में विक्षेप शक्ति के द्वारा सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त आकाशादि की उद्भावना कर देता है।

६. ब्रह्मणः संसारकारणत्वम्

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति।

वि० म०—नन्वेवंविधाज्ञानोपाधिकस्येश्वरचैतन्यस्य जगत्कारणत्वं तन्निमित्तत्वं वादुपादानत्वं वोभयं वेति जिज्ञासायामाह शक्तिद्वयवत् इति। स्वप्रधानतया कूटस्थचैतन्यस्वरूपावभासितया स्वोपाधिप्रधानतया उपाध्युपरक्तसत्तास्फूर्तिरूपतयेति भेदः।

एकस्योभयविधकारणात्मकत्वे दृष्टान्तमाह यथेति । लूतोर्णनाभिः । तन्तुरेव कार्यं तन्तुकार्यम् । यथा लूता तन्तुनिर्माणे प्रसिद्धकार्पासतूलकाष्ठयन्त्रादिसहायमनपेक्ष्यैव तूनातानवितानात्मकं च तत्कार्यं जालरूपं सृजत्येवमीश्वरः प्राक्सृष्टेरेक एवाद्वितीयो-असहाय एव स्वमायाशक्त्यावेशमात्रेण लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेदिति भावः । तथा च श्रुतिः। 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यं' (मुण्ड० १।१।६) इत्युपक्रम्य—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' ॥

(मुण्ड० १।१।७)

न्यायोऽपि । प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इति (ब्रह्मसूत्र १।४।२३)

अनुवाद--दोनों शक्तियों (आवरण और विक्षेप) वाले अज्ञान की उपाधि से युक्त चैतन्य अपनी प्रधानता के कारण (जगत् का) निमित्तकारण और अपनी उपाधि (अज्ञान) की प्रधानता के कारण उपादान कारण भी होता है। जैसे मकड़ी जाल रूप कार्य के प्रति अपनी प्रधानता (अर्थात् चैतन्य-प्राधान्य) की दृष्टि से निमित्तकारण है और अपने शरीर की प्रधानता की दृष्टि से उपादानकारण भी है।

टिप्पणी--शक्तिद्वय--यहाँ अवतरण जानने से पूर्व कारणों का लक्षण जान लेना आवश्यक है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में कारण तीन प्रकार के माने गये हैं---समवायिकारण, असमवायिकरण और निमित्तिकारण। सांख्य-वेदान्त दर्शन में समवायिकारण को ही उपादान कारण भी माना गया है। समवायिकारण उसे कहते हैं जिसमें कार्य समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है; जैसे तन्तु पट के समवायिकारण हैं, क्योंकि तन्तुओं में ही पट कार्य समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। असमवायिकारण वह है, जो समवायिकारण के निकटतः सम्बन्ध रखता है तथा जिसमें कारण का सामान्य लक्षण भी घटित होता है; जैसे तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है। उक्त दोनों कारणों से भिन्न तथा कार्योत्पत्ति में सहायक निमित्तकारण कहलाता है, जैसे करघा आदि पट का निमित्त कारण है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि ब्रह्म के अज्ञान से उपहित होने पर संसार की सृष्टि होती है, अतः अज्ञान से उपहित चैतन्य (ब्रह्म) संसार का कारण हुआ। किन्तु ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण है या उपादानकारण ? यदि निमित्तकारण कहें तो श्रुति विरोध होता है; क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (अर्थात् वह ब्रह्म जगत् की सृष्टि करके उसी जगत् में व्याप्त हो गया) इस तैत्तिरीय उपनिषद् के वाक्य से पता चलता है कि वह ब्रह्म अपने कार्य में व्याप्त है, निमित्तकारण कार्य में व्याप्त नहीं होता अतः ब्रह्म को निमित्तकारण नहीं मान सकते। यदि कहें कि उपादान कारण है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि नित्य चेतन ब्रह्म संसार का उपादान कारण माना जाएगा तो 'कारणगुणा कार्यगुणानिारभन्ते' इस नियम के अनुसार कारण के गुण कार्य में भी होने से यह क्षणभंगुर जड़-प्रपञ्च भी नित्य तथा चेतन हो जाएगा। इसी प्रश्न का उत्तर 'शक्तिद्वय' इत्यादि पंक्ति में निहित है। इसका तात्पर्य है कि ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण भी है तथा उपादान कारण भी। जिस प्रकार एक ही मकड़ी अपने तन्तुरूप कार्य के प्रति चैतन्यप्रधानता के कारण निमित्तकारण होती है तथा अपने शरीर के प्राधान्य के कारण उपादान कारण भी है। यदि मकड़ी चेतन न हो तो केवल शरीर से तन्तु नहीं बन सकते। यदि शरीर न हो तो केवल चैतन्य से ही तन्तु नहीं बन सकते। इस प्रकार जालरूपी कार्य में मकड़ी की चेतनता तथा उस

(विशिष्ट) शरीर दोनों ही कारण हैं । इनमें से पहला जाल का निमित्तकारण है, दूसरा उपादानकारण। इसी प्रकार चैतन्य (ईश्वर) भी अपनी चैतन्यप्रधानता के कारण जगत् का निमित्तकारण है तथा अज्ञानरूप उपाधि की प्रधानता के कारण उपादान कारण भी है । संसार अज्ञानोत्पन्न है । अतः अज्ञान (माया) संसार का उपादान कारण है । विशुद्ध चैतन्य जगत् की सृष्टि नहीं करता, केवल माया भी जगत् की सृष्टि नहीं कर सकती, क्योंकि वह जड़ है, ब्रह्म के अधिष्ठान में ही वह प्रवृत्त हो सकती है । अतः एक (चैतन्य) की दृष्टि से ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण है तथा दूसरे (माया) की दृष्टि से उपादानकारण है। इन दोनों कारणों को मिलाकर इनका एक नाम रखा गया है—अभिन्ननिमित्तोपादानकारण ।

इस पर भी शंका रह ही जाती है कि जब अविनाशी जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है तो जगत् नश्वर कैसे हो सकता है । इसका उत्तर है कि परिणामवाद में कार्य में कारण के गुण जाते हैं, किन्तु विवर्तवाद में नहीं। अर्थात् जो जिसका परिणाम होता है (जैसे दही दूध का परिणाम है) उसमें उपादान कारण के गुण अवश्य रहते हैं किन्तु जो जिसका विवर्त होता है (जैसे रस्सी में सर्प का भान) उसमें उस कारण के गुण नहीं रह सकते । यह चराचर जगत् ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। अतः इसके प्रधान कारण अज्ञान (माया) की अपेक्षा परम्परया सम्बन्धित ब्रह्म के उपादान कारण होने पर भी इसमें ब्रह्म के गुण नित्यता, चेतनता आदि नहीं रह सकते ।

१० सृष्टिक्रमः

तमः प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादिश्रुतेः ।

वि० म०—'तदेवं चैतन्यस्य जगत्कारणत्वं प्रपञ्च्य ततः कार्योत्पत्तिक्रमं दर्शयति **तमः प्रधानम्** इति । तमसः प्राधान्यनिर्देशाद्रजः सत्त्वयोरपि तत्र मात्रया वृत्तिर्द्रष्टव्या । उक्तभूतसृष्टिक्रमे प्रमाणमाह **तस्मादिति** । नन्वाकाशं नोत्पद्यते निरवयद्रव्यत्वादात्मवदिति चेन्न । उदाहृतश्रुतिबाधितविषयत्वेनानुत्थानात्प्रत्यनुमानविरोधाच्च । तथाहि आकाशमुत्पद्यते महत्त्वे सति भूतत्वान्महापृथिव्यादिवत् । न चाश्रयासिद्धो हेतुराश्रयस्याकाशस्योभयवादिसिद्धत्वात् । न च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधनिबन्धनाप्याश्रयायासिद्धताहेतोः । धर्मिग्राहकप्रमाणेन शब्दाश्रयत्वेनाकाशाख्यधर्मिमात्रसिद्धावपि तद्गतनित्यत्वादेस्तेनासिद्धेः । न च स्वरूपासिद्धो भूतत्वमहत्त्वयोः पक्षे सम्प्रतिपत्तेः नापि व्याप्यत्वासिद्धो निरुपाधिकत्वात् । न च मूर्तत्वं सावयवत्वरूपत्वादेरुपाधित्वं शक्यं गुणकर्मणोः साध्याव्याप्तेः । भूतत्वद्रव्यत्वसामान्यवत्त्वादेश्च साधनव्यापकत्वात् ।

अत्र द्रव्यत्वव्यतिरिक्तावान्तरजातिमत्त्वमुपाधिरिति चेन्न प्रध्वंसेन साध्याव्याप्तेः । तस्योत्पत्तिमत्त्वेऽपि जात्याश्रयत्वाभावात । न च साध्वस्योत्पत्तिमत्त्वस्य भावधार्मिकत्वान्न

प्रध्वंसे प्रसक्तिरिति वाच्यमुत्पत्तिमात्रस्यैवाकाशे साध्यत्वात् । अन्यथा विप्रतिपत्त्यविषयाणां द्रव्यत्वादीनां धर्मिगतानां साध्यताप्रसंग इत्यनुमानाकौशलमापद्येत । न चान्यः कश्चिदुपाधिरुत्प्रेक्ष्यते । अविभुत्वं त्वाकाशेऽपि वेदान्तिनः समानं 'ज्यायानन्तरिक्षात्' (छा० ३।१४।३) 'येनावृतमेवं च दिवम्' (महाना० १।३) इत्यादावात्मापेक्षयाकाशस्य न्यूनपरिमाणत्वश्रवणात् । अतो न तं प्रति तस्योपाधित्वम् । नापि विरुद्धः साध्यविपर्ययाव्याप्तेः । नापि साधारणानैकान्तिको विपक्षाप्रवेशात् । नाप्यसाधारणः सपक्षगामित्वात् । नापि कालातीतो बाधकप्रमाणानिरूपणात् । न चोक्तानुमानं बाधकमिति वाच्यं तस्य नरशिरःकपालशुद्धतानुमानवदागमबाधितविषयत्वस्योक्तत्वात् ।

न च श्रुतेराकाशाभिव्यक्तिमात्रार्थत्वान्नोत्पत्त्यर्थतेति वाच्यम् । सिद्धे चानुमानस्याबाधितविषयत्वेन प्रामाण्ये श्रुतेरन्यार्थत्वसिद्धिस्तत्सिद्धावितरसिद्धिरितीतरेतराश्रयात् । किञ्च 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इति (तैत्ति० २।१) सकृच्छ्रुतः सम्भूतशब्द आकाशे साक्षात्सम्बध्यमानो गौणः स एव वाय्वादावनुषज्यमानो मुख्य इति महदिदं व्याख्यानकौशलं तार्किकपशोः । नापि सन्दिग्धानैकान्तिकता विपक्षव्यावृत्तेः स्फुटत्वात् । नापि प्रकरणसमता तदनुमानस्य दुर्बलत्वेनोभयोः समानबलत्वाभावात् । निरवयवद्रव्यत्वस्य विनश्यदवस्थापन्ने पटे व्यभिचारात् । अवयवत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वं निरवयवशब्देन विवक्षितमिति चेन्न । अवयवशब्देन प्रदेशविवक्षायां सर्वस्याप्यवयविप्रदेशस्यावयवत्वेनोपक्षीणत्वादवयव्यभावप्रसङ्गात् । आश्रयविवक्षायामन्यतरासिद्धो हेतुः स्याकाशाश्रयस्य ब्रह्मणो ममेष्टत्वात् । तस्मात्त्वदनुमानं न प्रतिपक्षः । नापि प्रतिपक्षान्तरमुत्प्रेक्ष्यते । तस्मादनुमानेनाप्याकाशोत्पत्तेः सम्भावितत्वाच्छुष्कतर्कश्रद्धामनादृत्य श्रुत्युक्तमेवाकाशजन्मेतरजन्मवच्छ्रद्धेयम् ।

अभ्युपगम्य चेदं परमाणूनामनुत्पत्तिमत्त्वं महत्त्वे सतीति हेतुर्विशेषितः । तदनभ्युपगमे तु भूतत्वादित्येव हेतुः । तथा हि चतुर्विधाः परमाणव उत्पद्यन्ते मूर्तत्वाद्भूतत्वाद्वा पटादिवत् । न च मनसि मूर्तत्वहेतोरनैकान्तिकता तस्यापि पक्षतुल्यत्वात् । न च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः सिद्धेऽपि तेन धर्मिस्वरूपे तद्गतनित्यत्वादेरसिद्धेः । न च परमाणूनामपि कार्यत्वे कारणानवस्थानान्न किमपि मूलकारणं जगतः स्यादिति वाच्यं ब्रह्मण एव जगन्मूलकारणस्य श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रसिद्धत्वात् । तथा दिक्कालावुत्पत्तिमन्तावचेतनभावत्वात्पटवत् । न चास्माकमविद्यायां व्यभिचारस्तस्या भावाभावविलक्षणत्वाभ्युपगमात् । अन्येऽपि हेत्वाभासाः पूर्ववदुद्धरणीयाः । न च सामान्यविशेषसमवायेषु व्यभिचारस्तत्र सामान्यस्य विचार्यमाणे ब्रह्मस्वरूपानतिरेकादचेतनत्वहेतोस्तत्राप्रवृत्तेः । तथा हि विशेषास्तावत्सामान्ये कल्पिता इति त्वविद्यावादे निरूपितम् । तथा च द्रव्यत्वादीनां सामान्यविशेषाणां सामान्यमात्ररूपतायां सत्तायामन्तर्भावः । सत्ताया अपि स्फुरणविरहितायाः क्वाप्यनुपलम्भात् स्फुरणमात्रत्वं युक्तम् । स्फुरणं च ब्रह्मैव 'सदेव सौम्येदं' (छा० ६।२।१) 'सत्यं ज्ञानं' (तैत्ति० २।१।१) इत्यादिश्रुतेः । 'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' (बृह० २।४।६) इत्यादौ परब्रह्मस्वरूपातिरिक्तत्वेन ब्राह्मण्यादिजातिविजानतो निन्दाश्रवणाच्च । तस्मान्न सामान्ये व्यभिचारः । विशेषसमवायौ तु खपुष्प-

कल्पौ । अनयोर्यथा खपुष्पकल्पत्वं तथा चिदानन्दलहरीटीकायां प्रपञ्चितमस्माभिरितीहोपरम्यते ।

श्रुतयश्च भवन्ति प्रत्यनुमानबाधिकाः । 'अणोरणीयान्' (तैत्ति० आर० १०।१०।१) इति हि परमाणोरणीयः परमकारणं ब्रह्म दर्शयित्वा 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्' (तैत्ति० आर० १०।१०।३) इति तैत्तिरीयश्रुतिस्तद्व्यतिरिक्तमणु महच्चाविशेषेण प्रतिषेधति । 'असतोऽधि मनोऽसृज्यत' (तैत्ति० ब्रा० २।२।६।१०) 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मुण्ड० २।१।३) इति च तैत्तिरीयाथर्वणश्रुती मनस उत्पत्तिं स्पष्टमाचक्षाते । तथा 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः' (श्वेता० ६।२) 'सर्वे निमेषा जज्ञिरे' इति च (तैत्ति० आर० १०।१।२) श्वेताश्वतरतैत्तिरीयश्रुती कालस्यापि कार्यतामावेदयतः । 'पुरुष एवेदं सर्वं' (ऋक्संहिता १०।६।२) इत्युपक्रम्य 'दिशः श्रोत्रात्' (ऋक्सं० १०।६०।१४) इति पुरुषसूक्तात्मिका श्रुतिर्दिशां पुरुषविकारत्वं सूचयति ।

वस्तुतस्तु प्राच्यादिव्यपदेशस्यादित्यगत्युपाधिना नभस्येव कल्पितत्वान्नाकाशातिरिक्ता दिगस्तीति गमयितव्यम् । न च ब्रह्माप्युत्पद्यते कारणत्वादाकाशवदिति वाच्यम् 'अजो नित्यः' (कठ० २।१८) इत्यादिश्रुतिविरोधात् 'असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' (ब्रह्म सू० २।३।६) इति न्यायविरोधाच्च । एतेन जगदुत्पत्तिप्राक्काले ब्रह्मातिरिक्तं वस्तु नास्तीति दर्शितम् । अविद्यायाश्चात्मशक्तित्वेन ततः पार्थगर्थ्यायोगाज्जीवानां च तदा परमात्मनि सम्पन्नत्वात्तददृष्टानां च तदुपाध्यन्तःकरणनिष्ठानां तत्संस्कारविशेषाविद्यामात्रत्वेन पृथक्सत्त्वाभावात् । विस्तृतं चैतदाचार्यैर्वियदधिकरणादाविति विश्रम्यते । 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' (तैत्ति० २।१।१) इत्यादावाकाशादिभावमापन्नादविद्यासहायादब्राह्मण एव वाय्वादीनामुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम् । 'तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत' (छा० ६।२।३) इत्यादिश्रुत्यन्तरे तेजः प्रभृतेरपीक्षणपूर्वकमवादिस्रष्टृत्वश्रवणात् । अचेतनस्य चेक्षणानुपपत्तेः । न्यायोऽपि 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः' (ब्रह्मसूत्र २।३।१३) इतीममेवार्थं निर्णयति । एतेन प्रधानाणुवादिवादा निरस्ता वेदितव्यास्तेषां श्रुतिविरुद्धत्वान्न्यायविरुद्धत्वाच्च । न ह्यचेतनं चेतनानाधिष्ठितं किञ्चित्कुर्वदुपपद्यते रथशकटादावदर्शनात् । अतो न प्रधानवाद आश्रयणीयः । तथा परमाणुवादोऽपि अण्वोर्द्वयोः संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वे तयोः सावयवतापत्तेरनित्यत्वप्रसङ्गः । तत्संयोगस्य व्याप्यवृत्तित्वे निरवयवयोरण्वोरेकस्मिन्नितरस्य सम्मितत्वात्प्रथिमानुपपत्तिस्तथा च तत्कार्यस्य द्व्यणुकस्यापि परिमण्डलत्वप्रसङ्गः । किञ्च द्व्यणुकारम्भसमये परमाणू कथञ्चिद्विक्रियेते न वा । आद्येऽनित्यत्वादिदोषापत्तिर्मृत्पिण्डादिवत् । द्वितीये परमाणुसमूह एव द्व्यणुकादिकार्यं स्यात्तृणतूलवत् । इत्यलं प्रपञ्चेन । प्रकृतमनुसरामः ।

अनुवाद—तमोगुण की प्रधानता वाले, विक्षेपशक्ति से सम्पन्न तथा अज्ञानोपाधि से युक्त चैतन्य (ईश्वर) से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई । क्योंकि श्रुति (तैत्ति० २।१।१) कहती है—'उस आत्म से आकाश उत्पन्न हुआ' ।

टिप्पणी—तमः प्रधानविक्षेपशक्ति—यहाँ सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। अज्ञान की दो शक्तियों—आवरण और विक्षेप—का निरूपण पहले किया जा चुका है। इनमें आवरणशक्ति का कार्य भी बताया जा चुका है। अब विक्षेपशक्ति का कार्य बताते हैं। उसी के द्वारा संसार की सृष्टि होती है। सृष्टिक्रम में पहले अज्ञानोपहित चैतन्य से आकाश आदि पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। ये महाभूत जड़ हैं। जड़ता तमोगुण के कारण आती है। अतः आकाशादि के जनक अज्ञान में तमोगुण की प्रधानता मानी गई है। वेदान्तदर्शन आकाश को नित्य नहीं मानता है जैसा कि वैशेषिक दर्शन मानता है। भूतों की अनित्यता के प्रमाण में वेदान्ती 'तस्माद्वा एतस्मात्—' इत्यादि श्रुतियों को प्रस्तुत करते हैं। इस विषय में अन्य प्रमाण हैं—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति' (तै० उ०)। 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (गीता)। 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (ऋग्वेद—दशम मण्डल)। इससे सांख्य का प्रकृतिकारणवाद और नैयायिकों का परमाणुकारणवाद भी खण्डित हो जाते हैं।

तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमः प्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते। एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते। एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते।

वि० म०—तमः प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितं चैतन्यमाकाशादिकारणमित्युक्तं तत्कथमवगम्यते भूतकारणाज्ञाने तमः प्राधान्यमिति तत्राह **तेषु च** इति। **जाड्याधिक्यदर्शनात्** इत्यत्राधिक्यशब्दं प्रयुञ्जानः सत्तास्फूर्तिपदत्वेन कार्येषु चैतन्यस्यापीषदनुवृत्तिं सूचयति। तथा चाहुस्तत्त्वदर्शिनः।

'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥' इति (वाक्यसुधा २०)

वशिष्ठोऽप्याह—

'यदस्ति यद्भाति तदात्मरूपं
नान्यत्ततो भाति न चान्यदस्ति।
स्वभावसंवित्प्रतिभाति केवला
ग्राह्यं ग्रहीतेति मृषा विकल्पः'॥ इति

उत्पद्यमानेष्वाकाशादिषु वक्ष्यमाणकार्यानुरूपं गुणत्रयमुपलम्भयति तदानीमिति। कारणस्याव्याकृतस्य ये गुणाः सत्त्वादयः तेषां प्रक्रमेण तान् गुणानारभ्य यथाकार्यक्रमं सत्त्वादिगुणाः सहैव कार्यैस्तेषूत्पद्यन्त इत्यर्थः।

नन्वव्याकृतात्पञ्चतन्मात्राणि क्रमेण जायन्त इति हि स्मृतीतिहासपुराणेषु प्रसिद्धिस्तत्कथमाकाशादेरिहोत्पत्तिराम्नायत इति तत्राह एतान्येवेति। एतान्येवाकाशा—

दीनि सूक्ष्मभूतानि व्यवहाराक्षमाणि तन्माचाणि शब्दादितावन्मात्रैकस्वभान्यपञ्चीकृतानि परस्परमसंसृष्टानि चेति स्मृत्यादिषूच्यन्ते महर्षिभिरित्यर्थः। तदेवंभूताध्यारोपं श्रौतमनुक्रम्येदानीं भौतिकाध्यारोपं प्रतिजानीते एतेभ्य इति। प्रतिज्ञातैकदेशं विवृणोति सूक्ष्मशरीराणि इति।

अनुवाद उन (महाभूतों) में जड़ता अधिक दिखाई देने से उनके कारण (अज्ञान) में तमोगुण की प्रधानता मानी गई है। उस समय 'कारण के गुण कार्य में आ जाते हैं' इस न्याय से उन आकाश आदि में सत्त्व, रजस् और तमस् (ये तीनों गुण) उत्पन्न होते हैं। ये ही (आकाश आदि) सूक्ष्मभूत, तन्मात्रा और अपञ्चीकृत भूत कहे जाते हैं। इन्हीं से सूक्ष्म शरीरों और स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है।

टिप्पणी—(१) **कारणगुणप्रक्रमेण** -'कारण में जो गुण होते हैं, वे कार्य में उद्भूत हो जाते हैं—'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते'। यहाँ अज्ञान त्रिगुणात्मक है, अतः उसके कार्य आकाश आदि भी त्रिगुणात्मक होने चाहिये। (२) **सूक्ष्मभूतानि**—आकाश आदि भूत जब तक एक दूसरे में सम्मिश्रित नही होते तब तक सूक्ष्मभूत कहलाते हैं, जब तक प्रत्येक में पाँचों भूतों का अंश नहीं मिलता है तब तक वे अपञ्चीकृत हैं और एक दूसरे से अमिश्रित अपने विशुद्ध रूप में उन्हें तन्मात्र भी कहते हैं। तान्येव इति तन्मात्राणि 'मयूरव्यंसकादयश्च' सूत्र से तत्पुरुष समास हुआ है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इनको तन्मात्र कहा गया है। सूक्ष्म अवस्था में आकाश में केवल शब्द, वायु में केवल स्पर्श, अग्नि में केवल रूप, जल में केवल रस और पृथ्वी में केवल गंध रहता है, अतः आकाश आदि भी तन्मात्र कहे गये हैं।

११. सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः

सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिंगशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियपञ्चकं, वायुपञ्चकञ्चेति।

वि० भ०—लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिङ्गानि तानि च तानि शरीराणि च शरीरप्रतिष्ठत्वाच्छरीरसाधनत्वाद्वा धर्मादिद्वारेणेति लिङ्गशरीराणीत्यर्थः। तथा च प्रयोगः। 'विमतानीन्द्रियाणि प्राणश्च स्वातिरिक्तस्वानुगतचैतन्याधिष्ठानपूर्वकप्रवृत्तयोऽचेतनत्वाद्रथादिवत्' इति। श्रुतिश्च भवति। 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः' (बृह० ४।४।१८) इति 'यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्' (छा० ८।१२।४) इत्यादिका च।

के पुनः सप्तदशावयवा इति तानाह **अवयवास्तु** इति। ननु कथं लिङ्गशरीरं सप्तदशावयवमिति निर्धार्यते। यावता पुर्यष्टकं लिङ्गमाचक्षते सुरेश्वराचार्याः पञ्चीकरणवार्तिके—

'ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।
मनोबुद्धिरहिङ्कारश्चत्तं चेति चतुष्टयम्॥

प्राणोऽपानस्तथा व्यान उदानाख्यास्तथैव च ।
समानश्चेति पञ्चैताः कीर्तिताः प्राणवृत्तयः ॥
खं वाय्वग्न्यब्धरित्र्यश्च भूतसूक्ष्माणि पञ्च च ।
अविद्याकामकर्माणि लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः ॥ इति ॥

अन्यत्र पुनरन्यादृशं वर्णितम् । भूतसूक्ष्मपञ्चकं कर्मज्ञानेन्द्रियपञ्चकद्वयं चतुर्वृत्तिमेकमन्तः करणं पञ्चवृत्तिक एकः प्राणश्चेति सप्तदशावयवा इति । अतः कथं निर्णय इति । उच्यते । न चैतेषां पक्षाणां विकल्पोऽभ्युपेयते वस्तुनि तदयोगान्नापि समुच्चयस्तत्र प्रमाणाभावात्किन्त्विहोक्तस्य सप्त दशकस्यैव संक्षेपविस्तरभेदेन तथा तथा तत्र तत्र कथनम् । तथाहि । इहोक्तानां हि सप्तदशानामवयवानां भूतसूक्ष्माण्युपादानानि तदुपादानं चाविद्या । अतश्चोपादानोपादेययोरभेदान्नाविद्याभूतसूक्ष्मेभ्यः पृथग्विवक्ष्यते । भूतसूक्ष्माणि च लिङ्गशरीरेभ्यो न पृथगभिधीयन्ते । कामकर्मणोरप्यन्तः करणवृत्तित्वेन तदाश्रितत्वेन च तदभेदान्न पार्थगर्थ्यविवक्षा । अतः पुर्यष्टकवार्तिकेन न विरोधः । तथा पक्षान्तरेऽपि भूतसूक्ष्माणि तत्कार्येभ्यः पृथक्कृत्यान्तः करणप्राणयोश्च वृत्तिवृत्तिमतोरभेदं गृहीत्वा सप्तदशत्वं निरूपितम् । तथा च 'सप्तदशः प्रजापतिः' (शतपथ ५।२।२।३) इति श्रुतेः प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य सप्तदशत्वावगमात्सप्तदशावयवमेव लिङ्गशरीरं मुख्यं ज्ञेयमिति । तदुक्तमभियुक्तैः—

'मुख्यं तु सप्तदशकं प्रथितं हि लिङ्गम्' । इति । (सं० शारी० ३।१६)

अनुवाद—सूक्ष्म शरीर सत्रह अवयव वाले होते हैं, ये लिङ्गशरीर भी कहलाते हैं। (सूक्ष्म शरीर के सत्रह) अवयव ये हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, (एक) बुद्धि, (एक) मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच वायु ।

टिप्पणी–(१) लिङ्गशरीराणि—सूक्ष्मशरीर का ही दूसरा नाम लिङ्गशरीर है। इससे प्रत्यगात्मा की सत्ता का ज्ञापन होता है, इसलिए इसका नाम लिंगशरीर है—लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिः इति लिङ्गानि । लिङ्गानि च तानि शरीराणि च इति लिङ्गशरीराणि (कर्म स०)। लिंगशरीर के अवयवों के सम्बन्ध में पञ्चदशी भी यही कहती है—'बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया । शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ॥' किन्तु सांख्यतत्त्वकौमुदी के अनुसार कुछ भिन्नता है—'महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तम्' (२) ज्ञानेन्द्रियपञ्चकम्—पाँच ज्ञानेन्द्रिय आदि लिंगशरीर के अवयव हैं। इनकी उत्पत्ति आकाश आदि के सत्त्वगुणांश से होती है। जैसे आकाश के सत्त्वगुणांश से कान, वायु के सत्त्वगुणांश से त्वचा, तेज के सत्त्वगुणांश से नेत्र, जल के सत्त्वगुणांश से जिह्वा और पृथ्वी के सत्त्वगुणांश से नासिका का उद्भव होता है। यह बात नीचे की पंक्तियों में बताई गई है।

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि । एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते । बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः । मनो नाम संकल्पविकल्पा

त्मिकान्तः करणवृत्तिः । अनयोरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भावः । एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते । एतेषां प्रकाशात्मकत्वात् सात्त्विकांशकार्यत्वम् ।

वि० न०–ज्ञानसाधनानीन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि । तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकेन्द्रियत्वानि प्रत्येकं यथाक्रमं लक्षणानि । इन्द्रियाण्यहङ्कारिकाणीति सांख्यास्तान्निराकुर्वंस्तेषां भौतिकत्वं कथयति **एतानीति** । कारणगुणेनोत्पन्नत्रिगुणानां भूतानां सत्त्वगुणावच्छिन्नेभ्योंऽशेभ्यो गुणोद्रेकं कृतभागेभ्यः श्रोत्रादीनि जातानीत्यर्थः ।

नन्वन्तः करणस्य चतुष्टयत्वप्रसिद्धेः कथमिह द्वयमेव गृहीतमित्यत आह अनयोरेवेति । अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिश्चित्तम् । अभिमानात्मिकान्त करणवृत्तिरहङ्कारः । चित्तस्य बुद्धावन्तर्भावो विषयपरिच्छित्तिरूपत्वाविशेषात् । अहङ्कारस्य मनस्यन्तर्भावस्तस्यापि संकल्पात्मकत्वाविशेषात् । एवं स्वरूपाभेदेऽपि विषयभेदात् क्वचित्क्वचिच्चित्ताहङ्कारयोर्बुद्धिमनोभ्यां पृथङ्निर्देशः । बुद्धेर्ह्यपूर्वो विषयश्चित्तस्य पूर्वानुभूतः । तथा मनसो बाह्य आभ्यन्तरश्च सर्वो विषयो यथायोगमहङ्कारस्य त्वनात्मोपरक्त आत्मैवेति । अतो विषयभेदेऽपि स्वरूपभेदाद्युक्तोऽन्तर्भावः ।

पूर्ववदेषां चतुर्णामप्यन्तः करणभेदानां भौतिकत्वमाह **एते पुनः** इति । उक्तानां ज्ञानेन्द्रियाणामन्तःकरणानां च भूतगतसात्त्विकांशकार्यत्वे हेतुमाह **एतेषां** प्रकाशात्मकत्वादिति ।

'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्' । (गीता ४।६)

इति स्मृतेः । सत्त्वकार्यभूतः प्रकाश इन्द्रियान्तःकरणेषूपलभ्यमानस्तेषां सत्त्वकार्यतां गमयतीत्यर्थः ।

अनुवाद—कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका—ये (पाँच) ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । ये (ज्ञानेन्द्रियाँ) आकाश आदि के पृथक्-पृथक् सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होती हैं । अन्तःकरण की निश्चयात्मक (निश्चय करने वाली) वृत्ति को बुद्धि कहते हैं । अन्तःकरण की संकल्पविकल्पात्मक (संकल्प-विकल्प करने वाली) वृत्ति मन है । इन्हीं दोनों (बुद्धि और मन) में चित्त और अहंकार का अन्तर्भाव हो जाता है (अर्थात् बुद्धि को ही चित्त तथा मन को ही अहंकार कह सकते हैं) । ये (बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार) आकाश आदि में सम्मिलित रूप से स्थित सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होते हैं । ये (चारों) प्रकाशरूप होने के कारण सात्त्विक अंशों के कार्य (या उनसे उत्पन्न) कहे जाते हैं (क्योंकि सत्त्वगुण प्रकाशात्मक है, अतः उससे उत्पन्न पदार्थ भी प्रकाशात्मक होंगे) ।

टिप्पणी--बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार--ये चारों अन्तःकरण के ही रूप हैं । किन्तु इनमें अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि, संशयात्मिका वृत्ति को मन, स्मरणात्मिका वृत्ति को चित्त और अभिमानात्मिका वृत्ति को अहंकार कहते हैं ।

इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति अयं । कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानित्वेनेहलोकपरलोकगामी

व्यावहारिको जीव इत्युच्यते । मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनो-मयकोशो भवति ।

वि० म०--निरूप्यमाणे लिङ्गशरीर उक्तैरवयवैः सिद्धमवान्तरभेदं कथयति इयं बुद्धिरिति । बुद्धिग्रहणेनार्थान्मनोव्यावृत्तिरभिप्रेता । तदुपहितचैतन्यस्य च व्यपदेश-भेदमाह अयमिति । अयं विज्ञानमयकोषावच्छिन्नश्चिदात्मा जीव इत्युच्यत इत्यन्वयः । तस्य प्रज्ञात्मनो विशेषमाह व्यावहारिक इति । व्यवहारमेव विशेषणान्तरेण व्यनक्ति इहलोकेति तत्र हेतुमाह कर्तृत्वेति । तथा च श्रुतिः—

'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' । इति (तैत्ति० २।५।१)

कर्तृत्वादिकं चैतन्यमानो न वास्तवं किन्त्वाभिमानिकमित्यभिप्रेत्याभिमानित्वेनेत्यु-क्तम् । तथा च श्रुतिः । 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव' (बृह० ४।३।७) इत्याद्या । इवशब्देन व्यवहारस्याभासतां दर्शयति । तथा न्यायौ च 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्', 'यथा च तक्षोभयथा' (ब्रह्मसूत्र २।३।३३, ४०) इति च कर्तृत्वा-कर्तृत्वयोर्व्यावहारिकपारमार्थिकत्वे व्यवस्थापयतः ।

अनुवाद--(पाँच) ज्ञानेन्द्रियों सहित यह बुद्धि विज्ञानमय कोश होती है । यही (विज्ञानमय कोश) कर्ता, भोक्ता सुखी, दुःखी आदि होने का अभिमान करने के कारण व्यावहारिक जीव कहलाता है, जो इस लोक और परलोक में आवागमन करता है । ज्ञानेन्द्रियों से सहित मन मनोमयकोश होता है ।

टिप्पणी--(१) **विज्ञानमयकोश**—पाँच ज्ञानेन्द्रियों समेत बुद्धि के मिल जाने से विज्ञानमय कोश बनता है । आत्मा के आच्छादक होने के कारण इसे भी कोश कहते हैं (२) **कर्तृत्वभोक्तृत्व**" अर्थात् मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ इत्यादि का अभिमानी होने के कारण । जीव अज्ञानावृत होने के कारण ही अपने को सुखी, दुःखी आदि मानता है, वस्तुतः वह सुख-दुःख आदि से रहित शुद्ध ब्रह्म है, यही वेदान्त की शिक्षा हैं । और पाँच ज्ञानेन्द्रियों समेत मन के मिल जाने से मनोमयकोश होता है । यह बात पंचदशीकार भी कहते हैं--'सात्त्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः । तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ।' (३) **व्यावहारिक**—व्यवहार करने वाला ।

कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि । एतानि पुन-राकाशादीनां रजोंऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते ।

वि० म०--कर्मसाधनानीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि तानि विभजते कर्मेन्द्रियाणि इति । वचनादानगमनविसर्गानन्दसाधनेन्द्रियत्वं यथाक्रमं वागादीनाम् प्रत्येक लक्षणम् । एतेषामपि पूर्ववद्भौतिकत्वमाह एतानि पुनरिति । ननु कथमिन्द्रियाणां भौतिकत्वं निर्दिश्यते यत एषां भूतयोनेः परमकारणादेवोत्पत्तिः श्रूयते 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मुण्ड० २।१।३) इति सत्यं श्रूयते । तत्रार्थक्रममेवाश्रित्य भूतभावमा-पन्नात्तस्माद्भूतयोनेरिन्द्रियोत्पत्तिराश्रिता । तथा च न्यायः (ब्रह्मसूत्र २।३।१५) । 'अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्' इति । च चैतेषां भौतिकत्वे

प्रमाणाभावः ;'अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा॰ ६।५।४) इति श्रौतलिङ्गस्य प्रमाणत्वात् । च चवागादिष्विन्द्रियत्वमप्रसिद्धमिति वाच्यं 'प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा हि सर्वाणि नामान्याप्नोति (कौषी॰ ३।६) इति कौषीतक्यादौ चक्षुरादिभिः सह वाचः समभिव्याहृतत्वात् । आथर्वणे च 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' (प्रश्न॰ ४।८) इत्यादिना सविषयाणीन्द्रियाण्यनुक्रम्य 'हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च' (प्रश्नोपनिषद्) इति सविषयाणां समभिव्याहृतत्वात् । एतानि चेन्द्रियाण्येकादशैव भवन्ति न न्यूनानि नाधिकानि 'दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' (बृह॰ ३।९।४) इति श्रुत्यनुरोधेन सिद्धान्तितत्वात् । अत्रात्मशब्दो मनोविषयः प्राणशब्द इतरेन्द्रियविषय इति भेदः । अणुत्वं चैषां परिच्छिन्नत्वे सति सूक्ष्मत्वलक्षणमभ्युपगन्तव्यं न तु परमाणुलक्षणत्वम् । तथा सति सर्वशरीरव्यापिकार्यानुपपत्तिप्रसंगात् । अपरिच्छिन्नत्वे चोत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिव्याकोपप्रसंगः । स्थूलत्वे चोत्क्रान्तिसमये बिलान्निर्गच्छन्त इव सर्पाः शरीरछिद्रेभ्यो निष्क्रममाणानीन्द्रियाणि प्रत्यक्षेणोपलभ्येरन् ।न चोपलभ्यन्ते । तस्मादुक्त प्रकारेणाणूनीन्द्रियाणि । ननु 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशात्' इत्यादि श्रुतेरग्न्यादिदेवतानामेव मुखादिस्थानेषु वागादीन्द्रियात्मना प्रवेशश्रवणात्कथमेतेषां भौतिकत्वमुच्यत इति चेन्नैव दोषः । देवतानमप्याधिदैविकप्राणात्मनां भौतिकदेहविशिष्टचेतनानामेवैश्वर्ययोगादध्यात्मं वागादिरूपेण मुखादिष्ववस्थानस्येष्टत्वात् । तथा च भौतिकान्यपीन्द्रियाणि देवताशरीराणि नेति च विरुध्यन्ते । यद्वा इन्द्रियाण्युक्तलक्षणानि भौतिकान्येव देवतानां पुनस्तधिष्ठातृत्वेन तच्छरीरतया तत्र प्रवेश एव 'अग्निर्वाग्भूत्वा' (ऐत॰ २।४) इत्यादावाम्नायात् इति । तथा च न्यायः (ब्रह्मसूत्र २।४।१५) 'ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् इति । लिङ्गं च 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' (बृह॰ ४।४।१) इति तेजोमात्राणामिन्द्रयाणामुत्क्रान्तिसमये हृदयप्रदेशमुक्त्वा 'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति' (बृह॰) इत्यादित्यपुरुषस्य चक्षुषोऽपक्रमणं दर्शयति । ये पुनर्मुख्यप्राणस्य वृत्तिभेदा वागादय इति वदन्ति तेऽप्यनयैव नीत्या निराकरणीयाः । 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गाय' (बृह॰ १।३।२) इत्युपक्रम्यासुरपाप्मविद्धत्वेन वागादीननुद्गातॄन्निर्धार्य समाप्य च वागादिप्रकरणम् 'अथ हेमसामान्यं प्राणमूचुः' (बृह॰ १।३।६) इति पृथगेव मुख्यप्राणस्य निर्देशात् । तथा सुषुप्तावपि वागादीनामुपसंहारो मुख्यप्राणस्य सवृत्तिकस्यास्ति जागरणमिति वैधर्म्यलिङ्गाच्च प्राणादिन्द्रियाणां भेदः । एवमादि न्यायकलापो द्वितीयेऽध्याये चतुर्थे पादे विस्तृतः । इह पुनर्वेदान्तसारत्वाद् ग्रन्थस्य वेदान्तविहिता न्याया लेशतो दर्शिता इति । तस्माद्युक्तमिन्द्रियाणां भौतिकत्वादीति स्थितम् ।

अनुवाद—वाणी, हाथ, पैर, गुदा तथा मूत्रेन्द्रिय— (पाँच) कर्मेन्द्रियाँ हैं । ये (कर्मेन्द्रियाँ) आकाश आदि के रजोगुण वाले अंश से अलग-अलग क्रमशः उत्पन्न होती हैं (अर्थात् आकाश के रजोगुणांश से वाक्, वायु के रजोगुणांश से हाथ, अग्नि के रजोगुणांश से पैर, जल के रजोगुणांश से गुदा और पृथ्वी के रजोगुणांश से उपस्थ की उत्पत्ति होती है) ।

टिप्पणी--**कर्मेन्द्रियाणि**—कर्म में प्रवृत्त होने के कारण वाणी, हाथ आदि को कर्मेन्द्रिय कहते हैं। इन इन्द्रियों के कार्य क्रमशः ये हैं—वचन, आदान, गमन, विसर्ग तथा आनन्द—'पञ्चोक्त्यादानगमनविसर्गानन्दकाः क्रियाः' (पञ्चदशी)। इनकी उत्पत्ति भूतों से हुई हैं, अतः इन्हें भौतिक कहते हैं।

वायव प्राणापानव्यानोदानसमानाः। प्राणो नाम प्राग्गमनवन्नासाग्रस्थानवर्ती। अपानो नामावाग्गमनवान् पाय्वादिस्थानवर्ती। व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती। उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः। समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः। समीकरणन्तु परिपाककरणं रसरुधिरशुक्रपुरीषादिकरणमिति यावत्।

वि० म०--इदानीं वायुपञ्चकं विभजते **वायव** इति। प्राग्गमनमग्रतो निःसरणम्। यद्यपि 'प्राणो हृदये' (तै० ब्रा० ३।१०।८।५) इति श्रुतेर्हृदि प्राण इत्यभिधानाच्च हृदयस्थानः प्राणस्तथापि नासायां प्रत्यक्षमुपलभ्यमानत्वान्नासाग्रस्थानवर्तीत्युक्तम्। अधो नाभेरधस्ताद्गमनवान्मलापकर्षणव्यापारेण। पायुर्गुदं तत्स्थानवर्तीत्यर्थः। आदिशब्दादुपस्थग्रहः। तत्रापि मूत्ररेतोविसर्गस्यापानकर्मत्वात्। विष्वक्सरितः सर्वतो गमनं विद्यते यस्य स तथा। प्राणापाननियमनकर्मारण्यामग्न्युत्पादनादिवीर्यत्कर्महेतुत्वादखिलशरीरवर्ती व्यान इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यान' (छा० १।३।३) इत्युपक्रम्य 'यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानंस्तानि करोति' इति (छा० १।३।५)। यद्यपि 'चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीर शेभ्यः' (बृह० ४।४।२) इति श्रुतेरुत्क्रमणस्य चक्षुरादिद्वारेष्वनियमस्तथापि कण्ठसम्बन्धस्य प्रायेण नियतत्वात् कण्ठस्थानवर्त्युदान इत्युक्तम्। अशितादेः समं नयनात्समान इत्यर्थः।

अनुवाद—प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान—ये (पाँच) वायु हैं। प्राण नामक वायु सामने गमन करने वाला तथा नासिका अग्रभाग में रहने वाला है। अपान नामक वायु नीचे गमन करने वाला गुदा आदि स्थानों में रहने वाला है व्यान नामक वायु सब ओर गमन करने वाला और सम्पूर्ण शरीर में रहने वाला है। उदान नामक वायु कण्ठ में रहने वाला, ऊपर की ओर गमन करने वाला और ऊपर से ही निकलने वाला है। समान नामक वायु शरीर के भीतर खाये-पिये गये अन्न आदि का समीकरण करने वाला है। समीकरण कहते हैं पचाने को अर्थात् (खाये-पिये अन्न आदि को रस रक्त, वीर्य, विष्टा आदि के रूप में परिवर्तित कर देना समीकरण है।

टिप्पणी—(१) **प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान**--इनमें क्रमशः प्र, अप, वि, उद् और सम् उपसर्गपूर्वक अन् (प्राण ने) धातु से भाव में घञ् प्रत्यय हुआ है। (२) **समीकरणम्**—भुक्त अन्न आदि को पचाकर रस, रक्त आदि के रूप में परि-

वर्तित कर देना तथा वर्ज्यांश को मलादि के रूप में बाहर निकाल देना समीकरण कहलाता है ।

केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति । तत्र नाग उद्गिरणकरः । कूर्म उन्मीलनकरः । कृकलः क्षुत्करः । देवदत्तो जृम्भणकरः । धनञ्जयः पोषणकरः एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात् प्राणादयः पञ्चैवेति केचित् ।

वि० म०--मतान्तरमुत्थापयति स्वमतपरिशुद्धये केचितु इति । तेषां लक्षणान्याह नाग इत्यादिना । उद्गिरणं छर्दिः । उन्मीलनशब्दो निमीलनस्याप्युपलक्षणपरः । पोषणं पुष्टिः । अन्यत् प्रसिद्धम् । उत्थापितं मतं प्रत्याचष्ट एतेषामिति । केचिच्छब्द औपनिषदविषयः । एतेषां नागादीनां प्राणादिष्वन्तर्भावादित्यर्थः । उद्गिरणं ह्यूर्ध्वमुखस्य वायोः क्रियाः ऊर्ध्वमुखस्य वायुरुदान इत्युक्तम् । तथा चोदानेनैवोद्गिरणस्यापि सिद्धौ नागस्य तत्कर्तुरुदानेऽन्तर्भावान्न ततः पृथक्त्वम् । उन्मीलनस्याङ्गचेष्टान्तर्गतत्वात्तस्याश्च व्याननिमित्तकत्वादुन्मीलनकर्तुः कूर्मस्य व्यानेऽन्तर्भावः । समानेनाशितपीतादीनां पाके रसादिभावमापद्य सकलशरीरदेशेषु तत्प्रवेशने कृते सत्येव क्षुधोत्पत्तेस्तत्कर्तुः कृकलस्य समानेऽन्तर्भावः । जृम्भणस्य निद्रालस्यादिहेतुकत्वान्निद्रालस्यादेश्च वातुलाद्यन्नोपजीवननिमित्तकत्वादन्नस्वीकरणस्य चापानकर्मत्वादपान एव परम्परया जृम्भणहेतोर्देवदत्तस्यान्तर्भावः । अपानाख्यस्यान्तर्मुखतया शरीरान्तः प्रविशतो वायोरन्नस्वीकरणहेतुत्वमैतरेयके समाम्नायते 'तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत्' इति (ऐत० ३।१०) रसलोहितमांसादिक्रमेण शरीरेऽन्नपरिणामे सत्येव पोषणापरपर्यायाः पुष्टेः सम्भवाद्रसादिनयनकर्तरि समाने धनञ्जयस्यान्तर्भाव इति । तथा च प्राणादीनामेव यथायथमुद्गारादिक्रियानिमित्ततयाऽवस्थान्तरमापद्यमानानां नागादिसंज्ञाया अभ्युपपत्तौ तत्त्वान्तरकल्पनं तेषां गौरवमप्रामाणिकमिति भावः । श्रुतौ च पञ्चानामेव प्राणादीनां तत्र-तत्र श्रवणात्तद्विरुद्धा चेयं कल्पना । प्राणादयोऽपि मुख्यस्यैकस्य प्राणस्य वृत्तिविशेषा एव न तत्त्वान्तरभूताः । 'प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन' इति बृहदारण्यके (१।५।३) वृत्तिमतः प्राणस्य निरुपसर्गानिर्वाच्यस्य पृथङ्निर्देशात् । तथा च न्यायः 'पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदेशात्' इति (ब्रह्म० २।४।१२) । तथा मुख्यप्राणोऽपि वायोर्बाह्यस्य सूत्रात्मरूपस्य विकारो न शरीरमध्ये नभोवद्वृत्तिलाभमात्रेणावस्थितो बाह्यवायुरेव । नापि वागादीनां सामान्यवृत्तिरूपा क्रिया । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुः' (मुण्ड० २।१।३) इति श्रुतौ वायोरिन्द्रियाणां च प्राणात्पृथगेव निर्दिष्टत्वात् । तथा च न्यायः । 'न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्' इति (ब्रह्मसूत्र २।४।६) । 'अणुश्च' (ब्रह्मसू०) इत्यादि न्यायवशादिन्द्रियवत्सूक्ष्मत्वादिकमपि प्राणस्यानुसन्धेयमिति सङ्ग्रहः ।

अनुवाद—कुछ लोग (सांख्य मत वाले) कहते हैं कि इनके अतिरिक्त नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय नामक पाँच वायु और हैं । उनमें नाग वायु वमन कराने वाला, कूर्म वायु (पलकों को) खोलने एवं बन्द कराने वाला, कृकल भूख लगाने

वाला, देवदत्त जंभाई कराने वाला और धनञ्जय पोषण करने वाला है। कुछ लोगों के अनुसार इनका प्राण आदि में ही अन्तर्भाव हो जाने से (वायु) पाँच ही हैं (दस नहीं)।

टिप्पणी—धनञ्जय—इस वायु के सम्बन्ध में कहते हैं कि यह मरने पर भी शरीर को नही छोड़ता है।

एतत् प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतरजोंऽशेभ्यो मिलितेभ्य: उत्पद्यन्ते। इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियै: सहितं सत् प्राणमय—कोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंऽशकार्यत्वम्।

वि० म०—प्राणादीनामपि पूर्ववदुपादानविशेषं संकीर्तयति एतत् इति। उक्तानामेव कर्मेन्द्रियाणां प्राणादिभिर्मिलितानाम् पूर्ववदवान्तरविशेषमाह इदं प्राणादीति। प्राणादिपञ्चकस्य रजोंऽशकार्यत्वे लिंगमाह अस्येति।

अनुवाद—ये प्राण आदि पाँच वायु आकाश आदि में विद्यमान रजोगुण वाले अंशों से सम्मिलित रूप से उत्पन्न होते हैं। ये प्राण आदि पाँच वायु कर्मेन्द्रियों से युक्त होने पर प्राणमयकोश हो जाते हैं। इस (प्राणमयकोश) के क्रियाशील होने के कारण इसे रजोगुण के अंश से उत्पन्न माना गया है।

टिप्पणी—रजोंऽशकार्यत्वम्—रजोगुण स्वत: प्रेरक तथा क्रियाशील माना गया है—'रज: कर्मणि भारत' (गीता) अत: उसके अंश से उत्पन्न प्राणमयकोश में क्रियाशीलता स्वाभाविक है, क्योंकि 'कारणगुणा: कार्यगुणानारभन्ते' यह नियम है।

एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूप:। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूप:। प्राणमय: क्रियाशक्तिमान् कार्यरूप:। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं तत् सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते।

वि० म०—उक्तं कोशत्रयमनूद्य तेषां प्रतिनियतां व्यवस्थां दर्शयति एतेषु कोशेषु इत्यादिना। 'योऽयं विज्ञानमय: प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति: पुरुष:' (बृह० ४।३।७) इति श्रुतेर्विज्ञानस्य चैतन्यं प्रत्यतिसन्निहितत्वाज्ज्ञानशक्तिमत्त्वम्। 'काम: संकल्पो विचिकित्सा' (बृह० १।५।३) इत्यादिश्रुते: कामापरपर्याया इच्छाया मनोवृत्तित्वावधारणादिच्छाशक्तिमत्त्वं मनोमयकोशस्य। 'स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्त:' (छा० ८।१२।३) 'कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति' (प्रश्न० ६।३) 'स प्राणमसृजत' (प्रश्न० ६।४) इत्यादिश्रुते: प्राणमयकोशस्य क्रियाशक्तिमत्त्वम्। योग्यत्वात् इत्यस्यायमर्थ:। विज्ञानमयस्य तु कर्तृत्वमुपपादितं मनोमयस्य करणत्वं विवेकसाधनत्वात्। आत्मेन्द्रियविषयाणां सन्निकर्षे विद्यमानेऽपि यदन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानभावाभावौ तन्मनो विवेकसाधनत्वात् करणपक्षपातीति युक्तं मनोमयस्य करणरूपत्वम्। तथा च श्रुति:। 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं

नाश्रौषम्' इति (बृह० १।५।३) 'तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति' (बृ०) इति च। न्यायश्च भवति। नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वान्यथा' इति (ब्रह्मसूत्र २।३।३२) तथा 'तौ मिथुनं समैतां ततः प्राणोऽजायत' (बृह० १।५।१२) इति श्रुतेः प्राणस्य वाङ्मनसयोर्मिथुनीभूतयोरुत्पत्तिश्रवणात् प्राणमयस्य कार्यरूपत्वं युक्तमिति। एवं सूक्ष्मशरीरस्यावयवान् सविशेषान्निरूप्यावयविनं निर्दिशति एतत्कोशेति।

अनुवाद—इन (तीन) कोशों में से विज्ञानमयकोश ज्ञान की शक्ति से युक्त कर्ता रूप है। मनोमयकोश इच्छाशक्ति से युक्त कारणरूप है। और प्राणमयकोश क्रियाशक्ति से युक्त कार्यरूप है। योग्यता के कारण इन तीनों के इस प्रकार (कर्ता, करण और कार्य इन नामों से) विभाग का वर्णन करते हैं। ये तीनों कोश मिलकर सूक्ष्मशरीर कहलाते हैं।

टिप्पणी—(१) **ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः**—विज्ञानमयकोश चैतन्य के अत्यन्त निकट होने के कारण ज्ञानशक्ति से युक्त होता है। और सुखित्व 'दुःखित्व आदि का अभिमानी होने के कारण इसका कर्ता रूप है (२) **इच्छाशक्तिमान् करणरूपः**— चूँकि इच्छा मनोवृत्ति है, अतः मनोमयकोश इच्छाशक्ति से युक्त होता है। मन के बिना आत्मा, इन्द्रिय तथा विषयों का सान्निध्य होने पर भी ज्ञान का अभाव होता है, अतः मनोमयकोश का करणरूप होना सिद्ध होता है। (३) **क्रियाशक्तिमान् कार्यरूप.**—'स प्राणमसृजत' इत्यादि श्रुति के प्रमाण से प्राणमयकोश का क्रियाशक्तिसम्पन्न होना सिद्ध होता है। 'तौ मिथुनं समतां ततः प्राणोऽजायत' इस श्रुति के प्रमाण से मिथुनीभूत वाणी और मन से प्राण की उत्पत्ति होने के कारण प्राणमयकोश कार्यरूप है।

१२. सूक्ष्मप्रपञ्चनिरूपणम्

अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद् वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च।

वि० म०—'लिङ्गमनो यत्र निषक्तमस्य' (बृह० ४।४।६) 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवाः' (बृह० ३।१।६) इत्यादि श्रुतिषु लिङ्गशरीरस्याप्येकत्वबहुत्वश्रवणात्तदेकत्वानेकत्वयोरप्यज्ञानवदेव व्यवस्थेत्यभिप्रेत्याह अखिलसूक्ष्मम् इति। अनयोस्तु व्यष्टिसमष्ट्योरेकत्वं स्पष्टमेव पठ्यते। 'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समीष्टः' इति (बृहदारण्यके ३।३।२)।

समष्टिलिङ्गशरीराभिमानिनश्चैतन्यस्य व्यवहारसिद्धान् व्यपदेशविशेषानाह एतत्समष्टीति। व्यपदेशत्रये निमित्तमाह सर्वत्रेत्यादिना। सर्वत्रानुस्यूतत्वात्सूत्रात्मा। ज्ञानशक्तिमदन्तःकरणोपहितत्वाद्धिरण्यगर्भः। क्रियाशक्तिमदधिदैवतप्राणरूपत्वात् प्राणस्तादृगध्यात्मप्राणरूपत्वाद्वा। यद्वा ज्ञानक्रियाशक्तिमत्समष्टिप्राणेन्द्रियसमुदायात्मकं समष्टिलिङ्गशरीरं तदुपहितत्वाज्ज्ञानशक्तिप्राधान्येन हिरण्यगर्भः क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राण इति

च व्यपदेश इति योजना । तथा च श्रुतिवचनानि । 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतमसूत्रेण' इति (बृह० ३।७।२) । 'हिरण्यगर्भः समवर्ततागे' (ऋक्संहिता १०।१२१। १) । 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' इति (श्वेत० ३।४) । 'कतम एको देव इति प्राण इति' (बृह० ३।६।६) चैवमादीनि । प्राण इति चोच्यते, इति च शब्दात् कः प्रजापति-ब्रह्मेत्यादिव्यपदेशान्तराणि समुच्चीयन्ते ।

अनुवाद—यहाँ भी समस्त सूक्ष्म शरीर एकत्व के ज्ञान का विषय होने के कारण वन अथवा जलाशय के समान समष्टि रूप और अनेकत्व के ज्ञान का विषय होने के कारण वृक्ष या जल के समान व्यष्टि रूप भी होते हैं (अर्थात् जिस प्रकार कई वृक्षों को मिलाकर उन्हें एक वन या कई जल-बिन्दुओं को मिलाकर एक जलाशय कहा जाता है, उसी प्रकार अनेक सूक्ष्म शरीरों को एक समष्टि कह सकते हैं । फिर जिस प्रकार वन को अलग-अलग वृक्षों या जलाशय को अलग-अलग जल-बिन्दुओं के रूप में भी देखा जाता है उसी प्रकार सूक्ष्म शरीरों को भी अलग-अलग कई व्यष्टियों के रूप में देख सकते हैं) । इन सूक्ष्म शरीरों की समष्टि में जो चैतन्यात्मा विद्यमान है, उसे सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ और प्राण कहते हैं, क्योंकि वह इन सर्व (सूक्ष्म शरीरों) में व्याप्त तथा (विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय इन तीन कोशों से युक्त होने के कारण) ज्ञान, इच्छा एवं क्रियाशक्ति से सम्पन्न है ।

टिप्पणी—हिरण्यगर्भ—ऋग्वेद आदि में ब्रह्म का ही एक नाम हिरण्यगर्भ कहा गया है । हिरण्यगर्भ का अर्थ है सोने के अण्डे के भीतर रहने वाला । यहाँ ज्ञानशक्तिमान् विज्ञानमय कोश ही सोने का अण्डा है । उससे आवृत होने के कारण तदभिमानी चैतन्य ही हिरण्यगर्भ है । श्रुतिवाक्यों में यह सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ तथा प्राण आदि नामों से अभिहित किया गया है । महाभारत तथा मनुस्मृति में सोने के अण्डे से ब्रह्म के उत्पन्न होने का वर्णन है—'तदण्डमभवत् हैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।'

अस्यैका समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादि कोशत्रयं, जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूल-प्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते । एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसं भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात् ।

वि० म०—एवमुपहितस्य व्यपदेशभेदानुक्त्वोपाधेरपि तानाह अस्यैकेत्यादिना । स्थूलप्रपञ्चो विराड्विज्ञानमयादिकोशत्रय लिङ्गशरीरं सूक्ष्मशरीरमिति सम्बन्धः । मध्यप्रदीप यायेनोत्तरत्रापि जाग्रद्वासनेत्यत्र कोशत्रयपदं सम्बध्यते । (मुण्डक० भाष्य २।१।३) वासनामयत्वं चास्य श्रुतिराह—'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजतं वासो यथा पाण्ड्वाविकम्' (बृह० ३।३।६) इत्यादि 'सकृद्विद्युत्त' इत्यन्तेन । स्वप्नत्वं चास्याव्याकृतविराजोः सन्ध्यस्थानत्वादुपपन्नं 'सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं' (बृह० ४।३।६)

इति श्रुतेरविशेषात् । यतो वासनामयोऽत एवेति योजना । **'अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य' (बृह०) इत्याद्या स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्य' (बृह० ४।३।११)** इत्याद्या च श्रुतिः स्थूलशरीरस्य स्वप्ने लयं दर्शयन्ती तत्समष्टेर्महाप्रपञ्चस्यापि सन्धौ तं सूचयति ।

एवं समष्टिलिङ्गतदुपहितचैतन्ययोर्व्यपदेशानुक्त्वा व्यष्टिलिङ्गतदुपहितचैतन्ययोरपि तानाह **एतदिति**। तैजसव्यपदेश्यत्वे हेतुमाह **तेजोमय** इति । तेजोमयत्वं वासनामयत्वं 'स्वयं निर्माय स्वेन भासा' (बृह० ४।३।९) इति श्रुतौ भाःशब्देनान्तःकरणस्य वासनात्मनो व्याख्यातत्वात् ।

अनुवाद--इस (चैतन्य की उपाधिभूत सूक्ष्म शरीरों) की यह समष्टि स्थूल-प्रपञ्च की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म शरीर, विज्ञानमय आदि तीन कोश, जाग्रत् अवस्था की वासना से युक्त होने के कारण स्वप्न तथा इसी कारण स्थूल प्रपञ्च का लय-स्थान कही जाती है। इन सूक्ष्म शरीरों की व्यष्टि की उपाधि से युक्त चैतन्य तेजोमय अन्तःकरण की उपाधि से युक्त होने के कारण तैजस कहलाता है।

अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते । एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः 'प्रविविक्तभुक्तैजसः' इत्यादिश्रुतेः ।

वि० म०—अस्यापीति स्पष्टार्थः । 'यो वै प्राणः स वायु' (बृह० ३।१।५) इति श्रुतेः ।

समष्टिव्यष्टिलिङ्गयोस्तदवस्थयोरपि सन्ध्ययोरभेदं सिद्धवत्कृत्य तत्र तैजससूत्रयोर्भोगविशेषं निर्दिशति **एताविति** । **तदानीं** स्वप्नावस्थायाम् । निद्रादिदोषदूषितस्यादृष्टादिसमुद्बोधितसंस्कारविशेषसचिवस्यान्तःकरणस्य याः संस्कारानुरूपा वृत्तयस्तादृगन्तःकरणसंसृष्टचैतन्यस्थाविद्याशक्तिविजृम्भितविषयाकारास्ताभिः सूक्ष्मविषयान् जाग्रद्वासनामयानीषदस्फुटाननुभवत इत्यर्थः ।

न स्वप्नः स्मृतिरपरोक्षावभासितत्वात् नापि प्रत्यक्षप्रमा सम्प्रयोगाद्यभावात् । न च सुषुप्तिः स्पष्टं विषयानुभवात् । नापि जागरितं तदुचितदेशकालनिमित्तानामसम्भवात् । तथाहि 'यथा केशः सहस्रधा भिन्न' (बृह० ४।२।३) इत्यादिना केशसहस्रांशैर्नाडीप्रवेशं दर्शयति श्रुतिः । तथा चातिसूक्ष्मासु नाडीषु स्वप्नं पश्यतो न नदीसमुद्रवनगिरिनगरीनिवेशोचितो देशोऽस्ति येन तत्र स्थितान्नद्यादीन् पश्येत् । ननु 'बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा' (बृह० ४।३।१२) इति श्रुतेर्बहिरेव स्वप्नान्पश्यतीति चेन्न तत्र बहिःशब्देन स्थूलशरीरोपरामाभावमात्रस्य विवक्षितत्वात् । अन्यथा तस्मिन्नेव शरीरे नियमेन पुनर्जागरणानुपपत्तेः । तथा च श्रुत्यन्तरं 'कुरुष्वहमद्य शयानो निद्राभिभूतः

स्वप्ने पश्चालानधिगतश्चास्मिन् प्रतिबुद्धश्च' इति स्वप्नप्राप्तदेशान्तरात् पुनरागमनरहित-स्यापि स्वप्नदेशस्य शरीरे जागरणं दर्शयति। अतो न तत्र जाग्रदुचितो देशः। नापि कालस्तदुचितः सम्भवति मुहूर्तमात्रेऽपि संवत्सरशतानामनुभवात्। नाप्युचितं निमित्तं तत्र सम्भवति तक्षदारुमृदाद्यभावेऽप्यकस्मादेव प्रासादादेर्निष्पत्तिदर्शनात्। जागदवस्था-पन्नानां वस्तूनां स्वप्नेऽभावं दर्शयित्वा नूतनानां वासनात्मकानां निर्माणं दर्शयति श्रुतिः 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' (बृह० ४।३।१०) इत्यादिना। तस्मान्मायामय एव स्वप्न इति द्रष्टव्यम्। तथा च न्यायः (ब्रह्मसू० ३।२।३)। 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' इति। उक्तेऽर्थे प्रमाणमाह प्रविविक्तभुक् इति। आदिशब्दात् 'तस्मादेष प्रविविक्ता हारतर इवैव भवति' (बृह० ४।२।३) इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः।

अनुवाद--इसकी भी यह व्यष्टि स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण ही सूक्ष्म शरीर, विज्ञानमय आदि तीन कोश, जाग्रत् अवस्था की वासनाओं से युक्त होने के कारण स्वप्न और अतएव स्थूल शरीरों के लय का स्थान भी कहलाती है। उस समय (स्वप्नावस्था में) ये दोनों सूत्रात्मा तथा तैजस मनोवृत्तियों से (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध रूप) सूक्ष्म विषयों का अनुभव करते हैं। 'तैजस सूक्ष्म विषयों का भोक्ता है' इत्यादि श्रुति (माण्डू० ३)--वाक्य से भी इस बात की पुष्टि होती है।

टिप्पणी--मनोवृत्तिभिः--यहाँ भाव यह है कि सूत्रात्मा और तैजस स्वप्ना-वस्था में सूक्ष्म मनोवृत्तियों द्वारा वासनामय शब्दादि विषयों का उसी प्रकार अनुभव करते हैं जिस प्रकार ईश्वर और प्राज्ञ अज्ञानवृत्तियों के द्वारा सुषुप्ति-अवस्था में आनन्द का अनुभव करते हैं। इस विषय में माण्डूक्योपनिषद् का यह वाक्य प्रमाण है--- 'स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुख प्रविविक्तभुक् (सूक्ष्मजगतो भोक्ता) 'तैजसः' अर्थात् स्वप्नावस्था में बाह्य विषयों से असम्बद्ध अग्नि (सिर), सूर्य-चन्द्र (नेत्र), वायु (प्राण), वेद (जिह्वा), दिशा (श्रोत्र), आकाश (नाभि) तथा पृथ्वी (पैर)---इन सात अंगों एवं पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार---इन उन्नीस मुखों से तैजस वासनामय सूक्ष्म शब्दादि विषयों का उपभोग करता है।

अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्त-दवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चा-भेदः। एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः। स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि।

वि० म०---अत्रापीति स्पष्टार्थः। सूक्ष्मशरीरप्रपञ्चमुपसंहरति एवमिति। पूर्वत्र प्रतिज्ञातानि स्थूलभूतानि प्रपञ्चयति स्थूल इति।

अनुवाद--यहाँ भी समष्टि और व्यष्टि में (अर्थात् समष्टिगत और व्यष्टिगत सूक्ष्म शरीरों में) तथा इनकी उपाधि से युक्त सूत्रात्मा तथा तैजस में उसी प्रकार अभेद है, जिस प्रकार वन और वृक्ष में, वन से अवच्छिन्न आकाश और वृक्ष से अवच्छिन्न

आकाश में तथा जलाशय में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब और जल में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब में अभेद है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति बताई गई। स्थूल भूत तो पञ्चीकृत हैं।

टिप्पणी—पञ्चीकृतानि—पञ्चीकृत भूत स्थूलस्वरूप होते हैं। [आगे इनका निरूपण किया जा रहा है।]

१३. पञ्चीकरणम् (स्थूलभूतोत्पत्तिः)

पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् प्रत्येकं चतुर्धासमं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम्। तदुक्तम् :—

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥' इति।

वि० म०—पूर्वोक्तानामेव भूतानां परस्परं व्यवहर्तृप्राणिनिकायव्यवहारनिर्वाह-कतदीयधर्माधर्मापेक्षपरमेश्वरसान्निध्यादिनिमित्तापेक्षया विभागेन मिलितानां स्थूलतापत्तिः पञ्चीकरणमित्याह **पञ्चीकरणं तु** इति। ननु कथमित्यर्थविभागेन पञ्चीकरणं निरूप्यते तत्र प्रमाणाभावादित्याशङ्क्याह **अस्येति**। 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६।३।२) इतीक्षित्वा सा सदाख्या परमात्मदेवता सृष्टानां तिसृणां देवतानां तेजो-बन्नात्मिकानां मध्य एकैकां देवतां त्रिवृतं त्रिवृतं त्रिरूपां त्रिरूपामकरोत्कृतवतीति त्रिवृत्क-रणश्रुतिः। सा पञ्चीकरणमप्युपलक्षयत्याक्षिपतीत्यर्थः। त्रिवृत्करणं नाम तेजोबन्नानां त्रयाणां मध्य एकैकं द्विधा समं विभज्य पुनरेकैकभागस्य द्विधा विभागं कृत्वा स्वस्वद्वितीयं स्थूलभागं परित्यज्यान्यदीयस्थूलभागयोरेकैकस्य भागस्य संयोजनम्।

अनुवाद—सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति बताई जा चुकी है। उन्हीं सूक्ष्म भूतों का पञ्चीकरण होने पर वे स्थूल भूत बन जाते हैं। पञ्चीकरण की प्रक्रिया इस प्रकार है—आकाश आदि पाँच महाभूतों में से प्रत्येक को दो समान भागों में बाँटकर उन दस भागों में प्राथमिक (अर्धांश) पाँच भागों के प्रत्येक को चार बराबर भागों में बाँटकर उन चारों को अपने-अपने द्वितीयार्ध भाग को छोड़कर दूसरे भागों में मिला देना ही पञ्चीकरण है (अर्थात् आदि पाँच महाभूतों के पहले दो-दो भाग कीजिए, फिर उन दसों भागों में से प्राथमिक पाँचों भागों के पुनः चार-चार भाग कीजिए। इस प्रकार करने से सबके पाँच-पाँच भाग हो जायेंगे (एक अर्धांश तथा चार अष्टमांश)। अब उन पाँच भागों में अपने-अपने एक-एक अर्धांश को छोड़कर एक-एक भाग (अष्टमांश) को दूसरे-दूसरे महाभूतों के भागों में मिला दीजिए। इस प्रकार प्रत्येक महाभूत में आधा

अंश, अपना और अष्टमांश दूसरे-दूसरे महाभूतों के मिल जाने से प्रत्येक आकाशादि पाँच-पाँच महाभूतों से संयुक्त हो जाते हैं। यही पञ्चीकरण-प्रक्रिया है)।

इस (प्रक्रिया) को (पंचदशीकार ने इस प्रकार) कहा है--

प्रत्येक (भूत) के दो-दो भाग करके पुनः पहले (अर्धभागों) को चार भागों में बाँटकर अपने-अपने (द्वितीय भाग) से भिन्न (अन्यों के) द्वितीय भागों के साथ जोड़ देने से (अर्थात् अपने से भिन्न चार भूतों के द्वितीयार्ध में जोड़ देने से) वे (आकाशादि महाभूत) पाँच-पाँच (पञ्चीकृत) हो जाते हैं।

टिप्पणी--पञ्चीकरणम्--सृष्टि के विकासार्थ पाँचों महाभूतों का परस्पर मिश्रित होना ही पञ्चीकरण है। इस प्रक्रिया के अनुसार पञ्चीकृत स्थूल भूत में आधा भाग स्वयं का रहता है और आधा भाग प्रत्येक महाभूत के आठवें भाग के मिल जाने से बनता है। जैसे सूक्ष्म आकाश के अर्ध भाग में आठवाँ भाग सूक्ष्म पृथ्वी का, आठवाँ भाग सूक्ष्म वायु का, आठवाँ भाग सूक्ष्म अग्नि का तथा आठवाँ भाग सूक्ष्म जल का मिल जाने पर वह पञ्चीकृत (स्थूल) आकाश बन जाता है। इसी प्रकार शेष चार भूतों का भी पञ्चीकरण होता है। सुरेश्वरवार्तिक में पञ्चीकरण इस प्रकार बताया गया है—

'पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद् द्विधा।
एकैकं भागमादाय चतुर्धा विभजेत् पुनः॥
एकैकं भागमेकस्मिन् भूते संविशयेत्क्रमात्।
ततश्चाकाशभूतस्य भागाः पञ्च भवन्ति हि॥
वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत।
पञ्चीकरणमेतत्स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः

अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्।

वि० म०--अत्र केचित् प्रगल्भन्ते सम्प्रदायाध्वना पञ्चीकरणं यद्यपि स्थितं तथापि युक्तिदृष्टत्वाद्वाचस्पतिमतं शुभमित्यादिना। तत्र युक्ति चेत्थमाचक्षते गगनपवनयोः किल पृथिव्याद्यात्मत्वे रूपवत्त्वमहत्त्वाभ्यां चाक्षुषत्वं तयोः प्रसज्येतेति। तत्र त्रिवृत्करणपक्षेऽपि तेजसः पृथिव्यात्मत्वे काठिन्यद्रवत्वाभ्यां विशिष्टतयोपलम्भप्रसङ्ग इति दोषसाम्ये शक्तितेऽर्धभूयस्त्वान्न दोष इति परिहारस्य पञ्चीकरणपक्षेऽपि समानत्वेन दूषणोद्धारे व्यवहारमार्गप्राप्तपञ्चीकृतिमुधा पञ्चीकरणस्य कुत्राप्यश्रवणादिति। तत्रेदं वक्तव्यम्। किं पञ्चीकरणस्य व्यवहारमार्गसिद्धत्वादप्रामाण्यं किंवाश्रुतत्वादाहोस्वित्त्रिवृत्करणविरोधादिति। आद्येऽष्टकाकरणादीनां शिष्टव्यवहाराणामप्रामाणिकत्वापत्तिः। द्वितीयेऽपि किं साक्षाच्छ्रवणाभावो हेतुरुत श्रुतार्थासत्त्यभावोऽपि। नाद्यः साक्षादश्रुतस्य प्रत्याख्याने परमापूर्वादीनामपि प्रत्याख्यानप्रसङ्गात्। न द्वितीयः श्रुतार्थापत्तेर्विद्यमानत्वात्। तथाहि छान्दोग्ये तेजःप्रभृतीनां त्रयाणां सृष्टिश्रुतौ तावच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धाकाशवायुसृष्टेरुपसंहरणीयत्वम्। वियदधिकरणे (ब्रह्मसूत्र २।३।१—७) तेजोत्रिकरणे

(ब्रह्मसूत्र २।३।१०) च निर्धारितमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाहान्यादिभिर्हेतुभिः। तथा च श्रुत्यन्तरैकवाक्यतया पञ्चानां भूतानां सृष्टिं प्रक्रम्य तेषां सूक्ष्मतया व्यवहार्याणां व्यवहारसिद्धये त्रिवृत्करणं ब्रुवन्ती श्रुतिः पञ्चीकरणाभिप्राया चेन्न स्यात्तदा वाय्वाकाशयोः सूक्ष्मत्वानिवृत्तेरव्यवहार्यतापत्तौ सृष्टानां भूतानां व्यवहाराय त्रिवृत्करणोपदेशानुपपत्तिः केन वार्यते। न च वाय्वाकाशयोर्व्यवहार एव नास्तीति वाच्यं महान् वायुर्महन्नभ इति व्यवहारस्य सर्वजनीनत्वात्। ननु श्रुत्युक्तमित्येव त्रिवृत्करणं स्वीक्रियते न व्यवहारायेति चेन्न त्रिवृत्करणवाक्ये स्वसम्बन्धिनः फलस्याभावात्फलवदात्मैक्यज्ञानार्थवादत्वे यथासृष्टिन्यायं त्रिवृत्करणं युक्तमर्धजरतीयस्यान्याय्यत्वात्।

ननु शाखान्तरे भूतद्वयसृष्टेः श्रुतत्वात्त परित्यागानुपपत्तेश्छान्दोग्यतैत्तिरीयादिश्रुत्योर्विरोधपरिहारायोपसंहारः क्रियते न तथा पञ्चीकरणं क्वचिच्छ्रुतमस्ति येन तन्न्यायोऽनुसरणीयः स्यादिति चेत्सत्यम्। तथापि न्यायानुसरणं युक्तम्। यथा त्रिसर्गश्रुतौ सृष्टानां भूतानां स्फुटतरव्यवहाररूपनामरूपव्याकरणोपायतया त्रिवृत्करणं श्रुतं तद्वद् भूतपञ्चकसर्गश्रुतावपि तथा नामरूपव्याकरणोपायः कश्चिदीश्वरस्येच्छितुयुक्तः। स चोपायविशेषस्तस्यैवेश्वरस्य भूतयोनेः शाखान्तरे त्रिवृत्करणरूपः श्रुतस्तत्परित्यागेनान्यस्य कल्पनायां प्रमाणाभावात्तस्यैव पञ्चसर्गश्रुतावप्युपसंहारे प्राप्ते तस्य पञ्चीकरणार्थत्वमन्तरेण पञ्चानां भूतानां स्फुटतरव्यवहारोपायतानुपपत्तेर्युक्तं त्रिवृत्करणवाक्यस्य पञ्चीकरणोपलक्षणत्वमित्येनेन चरमः पक्षः प्रतिक्षिप्तस्त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणार्थत्वनिरूपणे हि तेन पञ्चीकरणस्य विरोधासम्भवात्। श्रुत्यभिप्रायश्चैवं वर्णितो विद्वत्तमाचार्यैः। 'आकाशस्य सर्वावकाशतया सर्वाव्यतिरेकाद्वायोश्च सर्वचेष्टाहेतुत्वेन सर्वाविनाभूतत्वात्तयोस्तेजः प्रभृतिष्वन्तर्भावं सिद्धवत्कृत्य त्रिवृत्करणं प्रयोगसौकर्यार्थं श्रुतिर्वर्णयाम्बभूव' इति। तस्मादस्ति पञ्चीकरणं प्रामाणिकमित्यलमतिनिर्बन्धेन।

अनुवाद--पञ्चीकरण की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में शंका नहीं करनी चाहिए (कि यह श्रुति प्रतिपादित नहीं है), क्योंकि उपनिषद् का त्रिवृत्करण उपलक्षण द्वारा पञ्चीकरण को भी सिद्ध करता है।

टिप्पणी--**त्रिवृत्करणम्**--तीन भूतों का परस्पर सम्मिश्रण। छान्दोग्य उपनिषद् में पहले अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति बताकर इनके त्रिवृत्करण (अर्थात् अग्नि, जल और पृथ्वी में प्रत्येक के दो समान भाग करके प्रथम आधे हिस्से के भी दो समान भाग करके इनको शेष दोनों भूतों के दूसरे आधे भाग से जोड़ने) के द्वारा ही सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई गई है--'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' तथा 'तासां त्रिवृत त्रिवृतमेकैकां करवाणि इति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।' (छा० ६।३।२।३) इस पर आशंका होती है कि उपनिषदों में त्रिवृत्करण बताया गया है, आप पञ्चीकरण कहाँ से ले आये हैं? इसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं कि त्रिवृत्करण पञ्चीकरण का उपलक्षण है। जो अपना भी बोध कराये और साथ-साथ दूसरों का भी वह उपलक्षण है। जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् (कौओं से दही की

रक्षा करो)' इस वाक्य में काक उपलक्षण है, अतएव वह अपना तथा अन्य पक्षी आदि का भी बोध कराता है, जिससे न केवल कौओं से अपितु अन्य पक्षी आदि से भी दही को बचाना वक्ता का अभिप्रेत सिद्ध होता है। इसी तरह त्रिवृत्करण में जो प्रक्रिया तीन महाभूतों के लिए बताई गई है, वह पाँच महाभूतों पर भी लागू होती है, ऐसा समझना चाहिये।

पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च 'वैशेष्यात्तद्वाद—स्तद्वादः' इति न्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति। तदानीमा—काशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च।

वि० म०— ननु पृथिव्यादीनां भूतानां चेत्सर्वभूतात्मकत्वं तथा सति व्यवहार-साङ्कर्यप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह **पञ्चानाम्** इति। वैशेष्याद्विशेषभावात् भागाधिक्यात्तद्वा-नमः पवनस्तेजोजलं पृथिवीत्यादिव्यपदेशो भवतीति द्वितीयाध्यायसमस्याधिकरणे न्या-निर्णयः कृतस्तेन न्यायेनाकाशादौ व्यवहारासाङ्कर्यं सिध्यतीत्यभिप्रायः।

इदानी भूतानां पञ्चीकृतत्वे लिङ्गं चाह तदानीमिति। तदानीं पञ्चीकरणा-नन्तरमाकाशे शब्दोऽभिव्यंज्यते। स्फुटतयेति सर्वत्र योजनीयम्। एतदुक्तं भवति आकाशादीनां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वेन स्वस्वकार्यापेक्षया व्यापकत्वात्कार्यांश-संवलितत्वेऽपि न कार्यगतगुणाश्रयतयाप्यभिव्यक्तिः, किन्तु स्वगुणाश्रयतयैव। तथ कार्याणां स्वकारणापेक्षयाल्पत्वात्तेषां कारणभागसम्मिश्रितानां कारणगुणाश्रयतया भवत्यभिव्यक्तिरिति। तथा च लोकेऽनुभवः। प्रचण्डशब्दो वायुः। प्रजल्पति ज्वाला नदी संघुष्यति। स्फुटयमानः पाषाणः क्रोशतीत्यादि। स्पर्शादीनां तेजः प्रभृति सद्भावोऽविवाद एव। न चैवमनुभवो भ्रान्तिर्व्यवहारदशायां बाधादर्शनात्। तथा प्रतिनियताश्रया अपि शब्दादयो गुणा यथायथं भूतान्तरेष्वप्युपलभ्यमाना भूतान पञ्चीकृतत्वं गमयन्तीति।

अनुवाद--पाँचों (भूतों) में पाँचों के समान भाग मिश्रित होने पर भी उन 'विशिष्टता या प्रधानता के आधार पर किसी पदार्थ का नाम रखा जाता है' इ न्याय के अनुसार आकाश आदि का व्यवहार संभव होता है तब (पञ्चीकृत दशा मे आकाश में शब्द, वायु में शब्द और स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप, जल शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की अभि-व्यक्ति होती।

टिप्पणी--**पञ्चानाम्**--यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि पाँचों महाभूतों में पाँच के भाग मिले हुए हैं तो वायु में पृथ्वी का अंश होने के कारण उसका चाक्षु प्रत्यक्ष होना चाहिये। इसी प्रकार आकाश में भी जलीय एवं पार्थिव अंश होने के कारण उसका त्वाच प्रत्यक्ष, चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा गन्ध की उपलब्धि होनी चाहिए, प

ऐसा होता नहीं है। इसका समाधान 'पञ्चानाम्' इत्यादि वाक्य से किया गया है। इसका तात्पर्य है कि पाँचों में पाँचों के भाग मिले हुए तो हैं, फिर भी प्रत्येक महाभूतों में अपना-अपना अंश ही अधिक है। इस कारण आकाश आदि व्यवहार होता है और अपने-अपने गुणों के अनुकूल ही उनका उन-उन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है।

१४. स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यः भूतेभ्यो भूर्भुवः स्वर्महर्जनस्तपः सत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरि विद्यमानानामतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपातालनामकानामधोऽधो विद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनाञ्चोत्पत्तिर्भवति।

वि० म०—एवं भूतारोपं प्रपञ्च्य भौतिकारोपमाह एतेभ्य इति। भूतादयः प्राणिनां कर्मज्ञानफलभोगस्थानविशेषो यथा पाठक्रममुपर्युपरि वर्तमानाः सप्त भूमेरधोऽधश्च पाठक्रमेण वर्तमाना अतलादयः सप्तेत्येवं चतुर्दश लोकाः। एत एव च स्वावरणभूतलोकालोकपर्वततद्बाह्यपृथिवीतद्बाह्यसमुद्रैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते। अस्य च परिमाणं श्रुतौ संकीर्तितं 'द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्वयान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति तां पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति' इति (बृह० ३।३।२)।

अनुवाद--इन पञ्चीकृत महाभूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्--ये सात ऊपर के विद्यमान लोक, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल--ये नीचे के विद्यमान लोक, (सम्पूर्ण) ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्गत रहने वाले चार प्रकार के स्थूल शरीर एवं उनके लिए उपयुक्त अन्न-पान आदि (पदार्थ) भी उत्पन्न होते हैं।

टिप्पणी--ब्रह्माण्ड--चौदह लोकों को चारों ओर से आवृत किये हुए लोकालोक पर्वत, पृथ्वी और उसके चारों ओर का समुद्र--यह ब्रह्माण्ड कहलाता है। दे० ऊपर वि० म० बृह०।

चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेजाख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि लतावृक्षादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकमशकादीनि।

वि० म०--शरीराणां चतुर्विध्यं स्पष्टयति शरीराणि इति यथोद्देशक्रमं शरीराणि लक्षयति जरायुजानीत्यादिना। ननु वैशेषिकाः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तेरप्रत्यक्षत्वात्प-

ञ्चात्मकत्वं न विद्यत इति वदन्तोऽप्रत्यक्षाभ्यां वाय्वाकाशाभ्यां सह पृथिव्यादिभिरारभ्यमाणानां शरीराणामप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गान्न पाञ्चभौतिकं शरीरमित्याहुस्तत्कथं पञ्चभ्यो भूतेभ्यश्चतुर्विधग्रामस्योत्पत्तिरुच्यत इति चेदत्राहुः । अस्ति हि शरीरे सर्वेषामपि भूतानां कार्यसम्प्रतिपत्तिरवकाशव्यूहनवचनक्लेदनकाठिन्यानां सर्वजनानुभवसिद्धत्वात् । अतः स्तत्कारणतया पञ्चापि भूतान्येकस्मिन् देहे सन्तीति स्थिते यदि तेषां भूतानां देहावयवत्वाभावो वृत्तिलाभमात्रत्वेव स्यात्तदा तदपगमानपगमाभ्यां देहस्यापचयोपचयौ न स्याताम् । दृश्येते च तयोः सतोरुपचयापचयावतस्तन्तुपटयोरिवावयवावयवित्वमेव पञ्चभूतदेहयोर्युक्तम् । पार्थिवे कार्येऽपार्थिवानां भूतानां वृत्तिलाभमात्रत्वे तु तदुपगमापगमाभ्यां तस्योपचयापचयायोगात् । हि वस्त्रस्यानारम्भकसलिलद्रव्यार्द्रीकृतस्य तदवस्थायामुपचयस्तदपगमे वापचयोऽस्ति तदायामविस्तारयोस्तदवस्थास्वदर्शनात् । तथा च जलदृत्योरपि पावकपवनोपगमापगमाभ्यां परिमाणान्यथात्वं न दृश्यते । तथा च यदि भस्त्रादाविव पार्थिवे देहे भूतान्तरस्य वृत्तिमात्रता स्यात्तर्हि भस्त्रादिदेहयोरविशेषेण व्यूहनादीनां सत्त्वमसत्त्वं वा तुल्यवत् प्रसज्येतादृष्टवदात्मनः संयोगतज्जन्यप्रयत्नादिकारणान्तरस्याप्युभयत्र समानस्यापादयितुं शक्यत्वात् । न च प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तेः शरीरस्याप्रत्यक्षत्वं शङ्कनीयं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षावयववृत्तीनामवयविनामप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । न च स्पर्शशून्यत्वादेकद्रव्यत्वाच्चाकाशस्यारम्भकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यमारम्भवादस्यानङ्गीकारादेकस्यापि दुग्धावयविनो दध्यारम्भकत्वदर्शनात् । न च दुग्धावयवैरिव दध्यारभ्यत इति वाच्यं तथा सति दधिदुग्धयोर्गन्धरसादिवैलक्ष्यं न स्याद् दुग्धस्येव सतः परिणामो दधीत्यभ्युपगमे स्याद्गन्धादिवैलक्ष्यम् । स्पर्शशून्यमपि द्रव्यं यथा गुणारम्भकं दृष्टं तथा द्रव्यारम्भकमप्यस्तु । श्रुतिरपि शरीरस्य संकीर्णद्रव्यारब्धतां श्रावयति 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयत इत्यादौ (छा० ६।५।१) । याज्ञवल्क्योऽप्याह—

'पञ्चधातून् स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः' । इति'

(याज्ञवल्क्यस्मृति ३।७।२)

वस्तुतस्तु पञ्चानां भूतानां पञ्चात्मकत्वस्य दर्शितत्वादारम्भवादस्य निराकृतत्वाच्च नात्रोदयनाद्युक्तदोषाशङ्कावकाशोऽपीति गमयितव्यं, तस्मात्सिद्धं शरीरं पाञ्चभौतिकमिति ।

अनुवाद—चार प्रकार के शरीर हैं—जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज । जरायु (गर्भाशय की थैली) से उत्पन्न शरीर जरायुज हैं, जैसे मनुष्य, पशु आदि के । अंडे से उत्पन्न शरीर अण्डज है, जैसे पक्षी, साँप आदि के । भूमि को फोड़कर उगे हुए शरीर उद्भिज्ज हैं, जैसे लता, वृक्ष आदि के । पसीने से उत्पन्न होने वाले शरीर स्वेदज हैं, जैसे जूँ मच्छर आदि के ।

टिप्पणी—**जरायुज**—जरायुभ्यः जातानि जरायुजानि जरायु √जन् + ड । इसी प्रकार 'अण्डज' आदि की भी व्युत्पत्ति होगी ।

१५. स्थूलशरीरस्य समष्टिव्यष्टी

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया

वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिर्वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति । एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभि-मानित्वाद्विविधं राजमानत्वाच्च । अस्यैषा समष्टिः स्थूल-शरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूल शरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते ।

वि० म०—अत्रापि इति स्पष्टार्थः। स्थूलसमष्ट्युपहितस्य चैतन्यस्य व्यपदेश-भेदानाह **एतत्समष्ट्युपहितम्** इति। चकारात् पुरुषादिशब्दग्रहः। उच्यते। 'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' (छा० ५।१८।१) 'सैषा विराडन्नादी' (छा० ४।३।८), 'पुरुष एवेदं' (श्वेता० ३।१५) इत्यादि श्रुतिभिरिति शेषः। तत्र हेतूनाह सर्वनरेति। सर्वशब्दो विश्वपदपर्यायः। विश्वनराभिमानित्वाद्वैश्वानरः। विविधं राजमानत्वाद्विराट्। चकारात्पूर्णत्वात्पुरुष इति च द्रष्टव्यम्। उपहितस्य व्यपदेशानुक्त्वो-पाधेरपि तानाह अस्यैषेति। 'अन्नं वै विराट्' (तैत्ति० ब्रा० १।६।३।४) इति श्रुतेरन्न-विकारत्वम्। स्थूलभोगोऽतिस्पष्टो भागः।

अनुवाद—यहाँ भी चारों प्रकार के समस्त स्थूल शरीर एकत्व या अनेकत्व के ज्ञान का विषय होने के कारण वन या जलाशय के समान समष्टि और वृक्ष या जल के समान व्यष्टि भी कहे जाते हैं। इनकी समष्टि से उपहित चैतन्य सर्वमनुष्याभि-मानी होने के कारण वैश्वानर और विविध रूपों में विराजमान होने के कारण विराट कहलाता है। इसकी यह (उपाधिभूत) स्थूल शरीरों की समष्टि अन्न का विकार (अन्नोत्पन्न) होने के कारण अन्नमयकोश, स्थूल भोग का आश्रय होने के कारण स्थूल-शरीर तथा (इन्द्रियों के द्वारा विषयों को भोगने के कारण) जाग्रत् भी कही जाती है।

टिप्पणी—(१) **सर्वनराभिमानित्वात्**—समस्त प्राणियों में 'मैं' इस अभिमान से युक्त होने के कारण। यहाँ 'नर' शब्द उपलक्षणतया समस्त प्राणियों का बोधक है। (२) **विविधम्**—अनेक रूपों में अर्थात् देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, गिरि, नदी आदि के रूप में। (३) **अन्नमयकोश**—माता-पिता के खाये हुए अन्न से उत्पन्न होने के कारण अन्नमय तथा आत्मा का आच्छादक होने के कारण कोश। (४) **जाग्रत्**—स्थूल शरीर को जाग्रत् इसलिए कहा जाता है कि वह इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग करता है—'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्' इति शङ्कराचार्यपादाः।

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभि-मानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्। अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते।

वि० म०—एवं समष्टिस्थूलतदुपहितचैतन्ययोर्व्यपदेशभेदं दर्शयित्वा व्यष्टि-स्थूलतदुपहितयोरपि तमाह **एतद्व्यष्टीति**। व्यष्टिस्थूलशरीरोपहितस्य विश्वशब्दवाच्यत्वे

हेतुमाह सूक्ष्म इति। सूक्ष्मशरीरं कारणशरीरं तदपरित्यज्य स्थूलशरीरादौ तदपेक्षया स्थूलशरीरं लिङ्गशरीरं तदादिर्यस्य परमस्थूलशरीरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिस्तस्मिन् प्रवेष्टृत्वात्। तथा हि जीवस्य त्रय उपाधयः। सुषुप्त्यादौ बुद्ध्यादिसंस्कारोपरञ्जितमज्ञानमात्रमुपाधिः। स्वप्ने जाग्रद्वासनामयं लिङ्गशरीरमुपाधिः। जाग्रदवस्थायां तु सूक्ष्मशरीरसंसृष्टस्थूललिङ्गशरीरमुपाधिः। तथा च पूर्वपूर्वोपाधिविशिष्टस्यैवोत्तरोत्तरोपाधिप्रवेशात् सर्वशरीरप्रवेष्टृत्वेन स्थूलभोगायतनाभिमानिनो विश्व इति संज्ञेति। यद्वा सूक्ष्मशरीरं लिङ्गशरीरं तदपरित्यज्य स्थूलशरीरं विराड्व्यष्टिस्तदादिर्येषां चक्षुरादिवृत्तीनां तत्तद्विषयाकाराणां च तत्प्रवेष्टृत्वादिति हेतुयोजना। स्थूलशरीरमपरित्यज्येति क्वचित्पाठे स्थूलशरीरे वर्तमानस्यैव सूक्ष्मशरीरकारणशरीरयोरप्यनुगतत्वादिति हेत्वर्थोऽनुसन्धेयः। सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद्विश्व इत्युक्तं भवतीति भावः। अस्यापि।

अनुवाद—स्थूल शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य सूक्ष्म शरीर के अभिमान को त्यागे बिना स्थूल शरीर आदि में प्रविष्ट होने के कारण विश्व कहलाता है। इसकी भी यह व्यष्टि (अर्थात् विश्वचैतन्य की उपाधिभूत स्थूल शरीर की व्यष्टि) स्थूलशरीर, अन्नविकार होने के कारण अन्नमयकोश तथा जाग्रत् कही जाती है।

१६. विश्ववैश्वानरयोः विषयानुभवः

तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपंचकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानग्नीन्द्रपेन्द्रोयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपंचकेन क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दांश्चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्संकल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतो 'जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञ' इत्यादिश्रुतेः।

वि० म०—पूर्ववद्विश्ववैश्वानरयोरपि जाग्रत्स्थित्यवस्थापन्नं भोगविशेषं सप्रकारं प्रपञ्चयति तदानीमित्यादिना। दिगादिपञ्चदेवतानियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन यथापाठक्रमं शब्दादिगन्धान्तान्स्थूलविषयाननुभवत इति प्रत्येकं योजनीयम्। अग्न्यादिदेवतापञ्चकनियन्त्रितेन वागादिपञ्चकेन वचनाद्यानन्दान्तांस्तथा चन्द्रादिदेवताचतुष्टयनियन्त्रितेन मनआदिचतुष्केण संकल्पादिचैत्यान्तांश्चतुरः सर्वानेतानिति। यथायथं यथोक्तक्रमानुरोधेन सर्वानेतान्स्थूलभोगान्विषयाननुभवत इत्यर्थः। अत्रापि प्रमाणमाह जागरित इति। आदिशब्दात् 'स्थूलभुग्वैश्वानर' (माण्डूक्य ३) इति वाक्यशेषाग्रहः।

इदमत्र बोद्धव्यम्। जाग्रदवस्थायां हि प्रमातृप्रमाणप्रमेयव्यवहारा भवन्ति। तत्र प्रमाणैर्योऽर्थं प्रमिणोति स प्रमाता येन प्रमिणोति तत्प्रमाणं यत्प्रमीयते तत्प्रमेयमिति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। तत्र यः प्रमाता जीवश्चेतनः स विषयं प्रमिमिषन् कया प्रत्यासत्त्या

प्रमिणोतीति विचारणीयम् । आत्ममनइन्द्रियविषयाणां क्रमेण संयोगपरम्परयेति चेन्न विषयसंयुक्ततत्संयुक्तेष्वपि संयोगपरम्परया युगपत्सर्वावभासप्रसङ्गात् । यावदिन्द्रियसम्बन्धस्तावदेव हि भासत इति नातिप्रसङ्ग इति चेन्नेन्द्रियसन्निकर्षस्यापीयत्तानवधारणात् । इन्द्रियसन्निकर्षानन्तरं योऽर्थः स्फुरति तावन्मात्रं सन्निकृष्यत इति चेन्नेन्द्रियसन्निकर्षस्येयत्तावधारणात्फुरणस्य विषयनियमस्तस्मिन् सतीन्द्रियसन्निकर्षेयत्तावधारणमितिपरस्पराश्रयात् । किञ्चोक्तसन्निकर्षस्य ज्ञानोत्पत्तिमात्रे क्लृप्तत्वात्तदन्तरं तस्यावस्थाने कल्पकाभावान्न ज्ञानस्य विषयेण सह सम्बन्धः स्यात् । तथा च मयेदं विदितमिति स्वात्मनि सम्बन्धानुसन्धानाभावप्रसङ्गः । न चाश्रयद्वारा सम्बन्ध इति वाच्यं ज्ञानस्य सर्वगतात्माश्रयत्वे युगपत्सर्वविषयसम्बन्धात्सर्वावभासप्रसङ्गः । देहावच्छिन्नात्मप्रदेशाश्रितत्वे देहस्य बाह्यविषयासम्बन्धान्न बाह्यं किञ्चिदपि भावात् ।

ननु सम्बन्धाभावेऽपि ज्ञानज्ञेययोरुद्दिष्टे विषये ज्ञानमतिशयं जनयतीति नाव्यवस्थेति चेन्नानुद्दिष्टेष्वपि दुर्गन्धादिषु ज्ञानकृतातिशयदर्शनात् । अदृष्टवशात् किञ्चिदेव भासत इति चेन्न तस्य दृष्टसामग्रीसम्पादकत्वेनान्यथासिद्धत्वादगतिकत्वाच्च । तस्मान्न किञ्चिदेतत् । अतो वक्तव्या जीवस्य विषयग्रहणव्यवहारे व्यवस्थेति । तदुच्यते । न तावदस्मन्मतेऽनुपपत्तिरस्ति यतो जीवस्य सर्वगतत्वासर्वगतत्वपक्षयोरप्यन्तः करणकृता व्यवस्था सम्भवति । तथा ह्यपरिच्छिन्नपक्षे तावदन्तः करणमेव मनोबुद्ध्यादिशब्दवाच्यं प्रमातृत्वादिव्यवहारापादकम् । यतोऽविद्यावृततया सर्वत्राप्रकाशमानमप्यात्मचैतन्यमन्तःकरणसंसृष्टं सदवभासते दर्पणद्रव्यसंसृष्टरविरश्मिवत् । तच्चान्तः करणमदृष्टादिसहायं विषयसंवेदनवेलायां तडागकुल्याक्षेत्रगतोदकप्रवाहवद्देहतद्बाह्यदेशतद्गतविषयानभिव्याप्यावतिष्ठते । तत्र च तिसृष्वप्यवस्थास्वात्मचैतन्यं तदात्मनैवाभिव्यज्यते । तत्र देहमध्यान्तःकरणभागावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृसंज्ञां लभते । देहविषययोर्मध्ये दीर्घप्रभाकारेन्द्रियद्वारा निर्गतान्तः करणभागावच्छिन्नं प्रमेयसंज्ञम् इति प्रमातृप्रमाणप्रमेयव्यवस्थोपपत्तिः । एवमभ्युपगमे येन विषयेण सहेन्द्रियस्य सन्निकर्षो दूरे वान्तिके वावतिष्ठमानेन तत्रैव तदाकारमेवान्तः करणं परिणमते नान्यत्र नान्याकारमिति च लभ्यते । तदनुरक्तचैतन्यात्मनश्चैकत्वान्मयेमदं विदितमिति सम्बन्धावभासश्चोपपद्यते नान्यथा । परिच्छिन्नात्मपक्षेऽपि जीवत्वोपाध्यन्तः करणस्य यद्यदात्मनावतिष्ठते तत्तदात्मना प्रत्यगात्मचैतन्यमप्यवभासमानं ग्राह्यग्रहणग्राहकभेदव्यवस्थामनुभवत्यनिरिवायः पिण्डादिसमारूढ इत्यनवद्यम् । न चेयं कल्पना तार्किककल्पनावत् पुरुषबुद्ध्युत्प्रेक्षामूला किन्तु श्रुतिमूला । तथा च श्रुतयः 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव सधीः स्वप्नो भूत्वेवं लोकमतिक्रामति' (बृह० ४।३।७) 'नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः' (श्वेता० ३।१८) 'आसीनो दूरं व्रजति' (कठ० २।२१) 'मनोमयो विज्ञानमय' (बृह० ४।४।५) इत्यादयः । उक्तं च भगवत्पादैः सर्वश्रुत्यर्थसंग्रहे दक्षिणामूर्तिस्तोत्रे ।

नानाच्छिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरं
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्पन्दते ।

जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्तं जग-
त्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इद श्रीदक्षिणामूर्तये' ॥

युक्तिरपि मनसो बाह्यविषयदेशगमनाभावे इन्द्रियसन्निकर्षपरम्परया देहान्तरे च विषयाकारतास्वीकारे बहिरेतावति दूरेऽयं विषयो मयोपलब्ध इति प्रतिसन्धानं न स्यात् । अनेकायामविस्तीर्णदेशतन्निष्ठरथगजाद्याकारभावस्यान्तर्हृदयेऽनुपपत्तेः न च स्वप्नवदुपपद्यत इति वाच्यं स्वप्नस्य मायामयस्योक्तत्वात् । जाग्रदपि मायामयमेवेति चेत्सत्यं तथापि स्वप्नात् व्यवहारभेदसिद्धये तयोः कियदप्यस्ति वैषम्यं सति प्रमातरि बाध्यमानत्वाभिमानादिलक्षणम् । नन्वखण्डब्रह्माकारा वृत्तिरन्तरेव जायत इति चेद् बाढं सा हि देहाद्यावरणमुपमर्दयन्ती जायते बाह्यविषया तु नैवभिति वैषम्यं स्यात् । किञ्च यदि विषयेन्द्रियसम्बन्धमात्रमन्तः करणस्य विषयाकारताहेतुस्तदा दूरवर्तिविषय-गतपरिमाणरूपसंख्यादीनामपि तदाकाराकारितेऽन्तःकरणे यथावदवभासप्रसङ्गः । न च दूरत्वगुणाद्दोषात्तथा नावभासत इति वाच्यं तस्येन्द्रियसम्बन्धमात्रे प्रतिबन्धकत्वाभावात् । ननु तत्रापीन्द्रियसंसृष्टाकारता मनस इति स्थिते दूरस्थविषयेयत्ताद्याकारता मनसो न भवेदिति चेन्मैवं मम तु मनसो बहिरस्वातन्त्र्याद्यावद्भिरवयवैरवयविभिर्वा चक्षुः सन्निक-र्षस्तावन्मात्राकारमेव मनः परिणमत इति राद्धान्ते । तत्र तु पदार्थसन्निकृष्टेन्द्रिये सति तद्गतभूयस्त्वाल्पत्वदृढत्वविशेषानादरेऽप्यन्तस्तदाकारवृत्त्युदयोपपत्तेर्विषयेयत्तादेरपि स्फुरणं प्रसज्येतेति वैषम्यात्तस्मादस्ति प्रत्यक्षव्यवहारे बाह्यमनोवृत्तिर्विषयाकारेति स्थितम् । परोक्षव्यवहारे तु विशिष्टशब्दलिङ्गादिबलनिबन्धना तत्तदर्थाकारा धीरन्तरेव समुन्मिषति विषयासत्तामात्रस्यैव तत्र स्फुरणात्तद्गतविशेषादेरस्फुरणाच्चेति दिक् । तथा च स्वप्नावस्थायामात्मा बुद्ध्युपाधिः स्वप्नदर्शनहेतुकर्मक्षये जागरितमागच्छन्पूर्व-गृहीतेषु करणेषु पुनः स्वस्वगोलकस्थानेषु तयैव बुद्ध्या प्रसारितेषु सत्सु स्वयं तद्बुद्ध्य-नुगतस्तत्तद्गोलकादिदेशं गच्छन् स्वोपाध्यन्तःकरणेन्द्रियसचिवस्तत्तदिन्द्रियविषयाननुमे-यांश्च स्थूलान् व्यावहारिकान् पदार्थाननुभवति । तदिदमस्य जागरितम् । तदुक्तम् 'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्' इति (शङ्करस्य पञ्चीकरणम्) । अयमेव विश्ववैश्वान-रात्मनः स्थूलभोग इति ।

अनुवाद—उस समय (जाग्रत् अवस्था में) ये दोनों विश्व और वैश्वानर दिशा, वायु, सूर्य, वरुण तथा अश्विनीकुमारों द्वारा क्रमशः नियन्त्रित श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियों (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका) से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का, अग्नि, इन्द्र, विष्णु, यम तथा प्रजापति द्वारा क्रमशः नियंत्रित वाक् आदि इन्द्रियों (वाणी, हाथ, पैर, गुदा तथा मूत्रेन्द्रिय) से क्रमशः वचन, ग्रहण, आगमन, विसर्जन तथा आनन्द का और चन्द्रमा, ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु द्वारा क्रमशः नियंत्रित मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त नामक चार आभ्यन्तर इन्द्रियों से क्रमशः संकल्प, निश्चय, गर्व तथा स्मरण रूप सब स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं। स्थूल श्रुति (माण्डू० ३) कहती है—'जाग्रत् अवस्था वाला तथा बाह्य विषयों को प्रकाशित करने वाला वैश्वानर स्थूल विषयों का उपभोग करता है।

टिप्पणी—अन्तरिन्द्रियचतुष्केण—भीतरी चार इन्द्रियों—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से। अन्तःकरण को अन्तरिन्द्रिय कहते हैं। मन आदि चारों वृत्तियाँ उसी की हैं। इसलिए यहाँ अंतरिन्द्रिय पद से उन्हीं चारों का ग्रहण है।

अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः। एवं पंचीकृतपंचभूतेभ्यः स्थूलप्रपंचोत्पत्तिः।

वि० म०—अत्राप्यनयोः स्थूल इत्यादि पूर्ववत्। स्थूलप्रपञ्चाध्यासं सावस्थमुपपादितमुपसंहरति **एवमिति**।

अनुवाद—यहाँ भी इन दोनों स्थूल शरीर का समष्टि और व्यष्टि में तथा उससे उपहित (दोनों चैतन्य) विश्व और वैश्वानर में पूर्वोल्लेख के अनुसार उसी प्रकार अभिन्नता है जिस प्रकार वन और वृक्ष में तथा वन से अवच्छिन्न और वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश में अभिन्नता है अथवा जिस प्रकार जलाशय और जल में तथा उन उन (जलाशय और जल) में प्रतिबिम्बित आकाश में अभिन्नता है। इस प्रकार पञ्चीकृत पाँच महाभूतों से स्थूल प्रपञ्च (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड) की उत्पत्ति बता दी गई।

१७. महाप्रपंचनिरूपणम्

एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपंचानामपि समष्टिरेको महान् प्रपंचो भवति। यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति यथा वावान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः। एतदुपहितवैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तरवनावच्छिन्नकाशवदवान्तरजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवच्चैकमेव।

आभ्यां महाप्रपंचतदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायः पिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य वाच्यं भवति, विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति। एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः।

वि० म०—उक्तं प्रपञ्चत्रयं तदुपहितचैतन्यत्रयं च पूर्ववत्सदृष्टान्तमेकीभावमापादयति **एतेषाम्** इत्यारभ्य **आभ्याम्** इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। स्पष्टार्थोऽयं ग्रन्थः। फलितमाह **अभ्यामिति**। तत्पदार्थविषयमध्यारोपमुपसंहरति **एवमिति**।

अनुवाद—इन स्थूल-प्रपञ्च, सूक्ष्म-प्रपञ्च और कारण-प्रपञ्चों की समष्टि उसी प्रकार महाप्रपञ्च कहलाती है, जिस प्रकार पृथक्-पृथक् वनों (वनभागों) का

समूह महावन कहलाता है अथवा भिन्न-भिन्न जलाशयों का समूह एक महान् जलाशय (सरोवर) कहलाता है। इन (स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण प्रपञ्चों) से उपहित वैश्वानर से ईश्वर पर्यन्त चैतन्य (अर्थात् वैश्वानर तथा विश्व, हिरण्यगर्भ तथा तैजस और ईश्वर तथा प्राज्ञ) भी उसी प्रकार एक हैं, जिस प्रकार विभिन्न वनों में अवच्छिन्न आकाश एक है या विभिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित आकाश एक है।

तपे हुए अग्नि के गोले से अभिन्न अग्नि के समान इस महाप्रपञ्च तथा उससे उपहित चैतन्य से अभिन्न अनुपहित (शुद्ध) चैतन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति-वाक्य का वाच्य अर्थ है और वही भिन्न होने पर लक्ष्य अर्थ हो जाता है (कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे तपे हुए लोहे के गोले से जल जाने पर 'लोहे से जल गया' यह कहा जाता है, पर वास्तव में जलाने की शक्ति अग्नि में होती है लोहे में नहीं और अग्नि के सम्पर्क से लोहा तथा अग्नि का अन्योन्य तदात्म्याध्यास होता है उसी प्रकार महा-प्रपञ्च तथा तदवच्छिन्न चैतन्य के साथ अन्योन्यतादात्म्याध्यासापन्न जो अनुपहित (शुद्ध) चैतन्य है वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का वाच्य अर्थ है और उक्त महाप्रपञ्च एवं तदवच्छिन्न चैतन्य के अन्योन्य तादात्म्याध्यास से जब शुद्ध चैतन्य को पृथक् मानते हैं तो वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का लक्ष्य अर्थ हो जाता है। फिर जिस प्रकार 'अयो दहति (लोहा जलता है)' इस वाक्य में मुख्यार्थबाध होने के कारण 'अयस्' शब्द की अयोगत अग्नि में लक्षण करके 'लोहे का अग्नि जलाता है' यह लक्ष्यार्थ माना जाता है, उसी प्रकार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य में 'सर्वं खल्विदम्' की चैतन्यांश में लक्षण के द्वारा सर्वप्रपञ्च तथा चैतन्य का एकत्व सिद्ध होगा)।

इस प्रकार (यहाँ तक) वस्तु में अवस्तु का आरोपरूपी अध्यारोप सामान्यतया दिखाया गया। अब अगले प्रकरण में यह दिखाया जाएगा कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति वस्तु को अवस्तु क्यों और कैसे समझ लेते हैं)।

१८. पुत्रादीनामात्मत्वसाधनम्

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते। अतिप्राकृतस्तु 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादिश्रुतेः स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात् पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति। चार्वाकिस्तु स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इत्यादि श्रुतेः प्रदीप्तगृहात् स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात् 'स्थूलोऽहं कृशोऽहम्' इत्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति।

वि० म०—अधुना त्वम्पदार्थविषयमध्यारोपं बहुवादिमतोपन्यासेन दर्शयति इदानीम् इति। तत्रारुन्धतीप्रदर्शनन्यायेन मुञ्जादिषीकाग्रहणन्यायेन वा प्रत्यञ्चं देहादि-

विविक्तं चिदेकतानमात्मानं दिदर्शयिषुरतिमूढमतेर्मतं तावदाह **अतिप्राकृत** इति। अतिप्राकृतस्तु पुत्र आत्मेति वदन्तीत्यन्वयः। कुत इत्यपेक्षायां श्रुतियुक्त्यनुभवाभासान् क्रमेण प्रमाणयति आत्मा वा इत्यादिना। सर्वस्मिन्निवेति युक्तिकीर्तनं लोके ही पुत्रेषु इष्टमिष्टं खाद्यादि स्वात्मवचनेनापि पुत्रेषु समर्पयन्तस्तेषु परमप्रेम कुर्वन्तस्तेषामात्मत्वमेव प्रकटयन्तीति भावः। पुत्रे नष्ट इत्याद्यनुभवोक्तिः।

मतान्तरमाह **चार्वाक** इति। स्थूलशरीरमात्मेति वदन्तीत्यन्वयः। अत्रापि श्रुत्यादि प्रमाणं वदन् प्रागुपन्यस्तपक्षे दूषणं सूचयति स वा एष इत्यादिना। एवमेवोत्तरेष्वपि पक्षेषु प्रमाणादिग्रन्थोत्थानं द्रष्टव्यम्। स वै य ओषधीनां रेतोरूपेण परिणतानां परिणामः प्रसिद्ध एव प्रत्यक्षः पुरुषः शिरःपाण्याद्यात्मकोऽन्नरसमयोऽन्नरसविकारोऽन्नरसेनैवोपचीयमानत्वादिति श्रुतेरर्थः। इह पुरुषशब्दस्य लोक आत्मनि प्रयोगात्तस्य च श्रुतावन्नरसमये देहे प्रयुक्तत्वाद्देह आत्मेति गम्यत इत्यभिप्रायः। परमप्रेमगोचरत्वमात्मन्येव विश्रान्तमितस्य सर्वस्यापि तच्छेषत्वेनैव प्रियत्वात्। 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' (बृह० १।४।८) इति श्रुतेश्च। सा च प्रीतिः पुत्रादपि देहेऽधिकतरा निरतिशया च दृष्टा। अन्यथा दह्यमाने गृहादौ हन्तृषु चोपस्थितेषु पुत्रं परित्यज्य स्वस्य पलायनानुपपत्तेरिति युक्त्यर्थः। अहम्प्रत्यय आत्मानमवगाहत इति सर्ववादिनामविवादः। स च कृशोऽहमित्यादिना देहावलम्बनोऽनुभूयते ऽतो देह एवात्मेत्यर्थः।

अनुवाद—अब प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा या ब्रह्म) पर 'यह आत्मा है, यह आत्मा है' इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप में जो आरोप किया जाता है, उसको विशेष रूप से बताते हैं—

अत्यन्त सामान्य बुद्धि वाला मनुष्य तो 'आत्मा ही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है' (कौशी० उ० २।११) इस श्रुतिवचन के प्रमाण से, अपने ही समान अपने पुत्र पर भी प्रेम (करते हुए लोगों) के देखे जाने से तथा पुत्र के पुष्ट या नष्ट होने पर 'मैं पुष्ट या नष्ट हो गया' इत्यादि अनुभव से भी पुत्र को ही आत्मा मानता है।

चार्वाक तो 'यह पुरुष अन्न और रस से बना है' (तैत्ति० २।१।१) इत्यादि श्रुति-वचन के प्रमाण से, जलते हुए घर में से अपने पुत्र को भी छोड़कर अपने को बाहर निकालने (में व्यस्त लोगों) के देखे जाने से तथा 'मैं मोटा हूँ', 'मैं पतला हूँ' इत्यादि अनुभव से भी स्थूलशरीर को ही आत्मा मानता है।

टिप्पणी—(१) **प्रत्यगात्मा**—अन्तरात्मा, चैतन्य। यहाँ ग्रन्थकार ने 'प्रत्यगात्मा या आत्मा क्या है'—इस सम्बन्ध में वेदान्त-मत से भिन्न मतों को श्रुति, युक्ति तथा अनुभव के आधार पर प्रमाणित करने का उपक्रम करके आगे उन मतों का खण्डन किया है।

(२) **अतिप्राकृतः**—अत्यन्त साधारण जन या अत्यन्त मूढमति। यहाँ 'अरुन्धती-प्रदर्शन' न्याय से आत्मा के सम्बन्ध में नौ मतों का उल्लेख किया गया है। अरुन्धती तारा बहुत छोटा होता है। इसे आसानी से नहीं दिखाया जा सकता। इसलिए लोग

किसी को अरुन्धती तारा दिखाने से पहले उसके आस-पास के किसी बड़े तारे को दिखाकर कहते हैं कि यही अरुन्धती है। जब वह उस बड़े तारे को पहचान लेता है तो और पास के अन्य तारे को बताते हैं। इस प्रकार अन्त में वास्तविक अरुन्धती की पहचान कराई जाती है। यही 'अरुन्धतीप्रदर्शन' न्याय है। इसके अनुसार यहाँ आत्मा की पहचान कराने के लिए पहले उन मतों का उल्लेख किया गया है, जो आत्मेतर वस्तु को ही आत्मा मानते हैं। इसलिए अन्त में इन सब मतों का खण्डन करके वास्तविक आत्मा को बताया जाएगा। इन नौ मतों के मानने वालों में से कुछ तो श्रुति को प्रमाण मानते हैं और कुछ नहीं मानते हैं। जो नहीं मानते हैं, उनका मखौल उड़ाने के लिए श्रुति-प्रमाण को उद्धृत करके अन्य श्रुति-वाक्यों द्वारा उस प्रमाण का खण्डन कर दिया गया है।

(३) प्रदीप्त........**निर्गमदर्शनात्**—भाव यह है कि घर में आग लगी हो तो मनुष्य पुत्र को भी छोड़कर पहले अपने शरीर को ही बचाता है। इसलिए श्रुति कहती है कि 'न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति' (अर्थात् पुत्रों के प्रयोजनार्थ पुत्र प्रिय नहीं होते, अपितु अपने प्रयोजन के लिए पुत्र प्रिय होते हैं)। इस तर्क के आधार पर शरीर को ही आत्मा मानना चाहिए।

(४) **चार्वाकः**—चार्वाक-मत नास्तिक है। यह वेद, ईश्वर, पुनर्जन्म आदि को नहीं मानता है।

अपरश्चार्वाकः 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः' इत्यादिश्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोऽहं बधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति। अपरश्चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय' इत्यादिश्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावान् इत्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति।

वि० म० लोकायतानां चार्वाकविशेषाणां मतभेदानाह **अपरश्चार्वाक** इत्यादिना बौद्धस्त्वित्यस्य प्राक्तनेन ग्रन्थेन। अन्वयादि पूर्ववत्। प्राणानां वागादीनां प्रजापतिगमनं तं प्रति प्रश्नकरणं चाचेतनत्वे न सम्भवतीत्यनुपपत्त्या तेषां चैतन्यमवश्यम्भावीति श्रुतार्थापत्तिरिह मानं न श्रुतिरिवेति द्रष्टव्यम्। इन्द्रियाणामभावे उपरमे स्वापादौ देहचलनस्य चैतन्यकार्यस्यादर्शनात्तदनुपरमे च तद्दर्शनादन्वयव्यतिरेकाभ्यामिन्द्रियाण्येव चेतनानि न देह इति निश्चीयते। न च तेषां करणत्वेनापि ज्ञानान्वयव्यतिरेकोपपत्तौ तदाश्रयत्वकल्पनमयुक्तमिति वाच्यमाश्रयसिद्ध्युत्तरकालीनत्वात्करणत्वकल्पनायास्तस्य चाश्रयत्वस्य देहेऽप्यसिद्धेर्नान्यथोपपत्तिः। अत इन्द्रियाण्येवात्मनः करणत्वादेश्चाहमालम्बनत्वमबाधितम्। देहे तु मम प्रत्ययबाधितत्वाद्भाक्तमिति भावः।

मुख्यप्राणात्मवादिमतमुत्थापयति **अपर** इति। अन्योऽन्नमयादात्मन इति

योजना। स चान्नमयादन्तरोऽभ्यन्तर इत्यर्थः। **प्राणाभावे** प्राणस्य स्वस्थितिनिबन्धनान्नाद्यलाभेन कृशीभावे सतीन्द्रियाणां विद्यमानानामपि स्वस्वविषये प्रवृत्त्यदर्शनात् सति च तस्मिन् पुष्टे तद्दर्शनात् प्राण एवात्मा न प्राणाधीनस्थितिकानीन्द्रियाणीति। इन्द्रियाणां चैतन्यान्वयव्यतिरेकः करणत्वेनाप्युपपद्यत एव। तेषामेव कर्तृत्वे करणाभावप्रसङ्गः। किञ्चैकस्मिञ्छरीरे इन्द्रियाणां सम्भूय भोक्तृत्वं प्रत्येकं वा। द्वितीयेऽपि युगपत्क्रमेण वा। नाद्यः रूपादौ चक्षुरादिभोग्ये जिह्वादीनां भोक्तृत्वादर्शनात्। न हि सम्भूयेन्द्रियाण्येकं कार्यं निर्वर्तयन्ति तेषां प्रति नियतासाधारणविषयभेदस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्। न द्वितीयः। उक्तेन प्रकारेण यौगपद्यासम्भवात्। प्रत्येकं क्रमेण भोक्तृणीन्द्रियाणीति तृतीयेऽपि पक्षे तेषां प्रत्येकं स्वातन्त्र्ये कदाचिदनेकमत्ये सति विरुद्धादिक्रियैस्तैरधिष्ठितं शरीरं विदीर्येत। अस्वातन्त्र्ये यदधीनत्वं तेषां तस्यैवात्मत्वं युक्तं स्वामिभृत्यन्यायस्य शरीरैक्येऽनुपपत्तेः। प्राण एव तु मुख्यः सर्वेषामिन्द्रियाणामाश्रय इति युक्तमतः स एवात्मा स्वापप्रबोधयोरविच्छिन्नस्वभावः। प्रत्येकमिन्द्रियाणामात्मत्वेऽन्यदृष्टेऽन्यस्मरणानुपपत्तेरिह च यश्चक्षुषा रूपमद्राक्षं स इदानीं गन्धं जिघ्रामीति प्रत्यभिज्ञा दृश्यते। तस्मान्नेन्द्रियाण्यात्मान इति भावः। अशनायापिपासयोश्च प्राणधर्मत्वं प्रसिद्धमन्नपानयोरलाभे प्राणविच्छेददर्शनात्। तादृग्धर्मकश्च प्राणोऽहम्प्रत्ययविषय इति प्राण आत्मेत्यनुभव इत्यर्थः।

अनुवाद--दूसरा चार्वाकमतानुयायी 'उन प्राणों (इन्द्रियों) ने पिता प्रजापति के पास जाकर कहा' (छा० ५।१।७) इत्यादि श्रुतिवचन के प्रमाण से, इन्द्रियों के अभाव में शरीर का संचालन भी न होने से और 'मैं काना हूँ', 'मैं बहरा हूँ' इत्यादि अनुभवों से भी इन्द्रियों को आत्मा मानता है।

अन्य चार्वाकमतानुयायी 'शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न भीतर रहने वाला यह आत्मा प्राणमय है' (तैत्ति० २।२।१) इत्यादि श्रुति-वचन से, प्राण के अभाव में इन्द्रियों के भी असमर्थ हो जाने से तथा 'मैं भूखा हूँ', 'मैं प्यासा हूँ' इत्यादि अनुभवों से भी प्राण को आत्मा मानता है।

टिप्पणी—(१) **प्राणाः**—प्राण शब्द अनेकार्थक है। यहाँ प्रकरणवश उसका अर्थ इन्द्रिय है। (२) **अशनायावान्**—भूखा। अशनम् इच्छति इति अशन+क्यच् (नामधातु)=अ भावे, स्त्रियां टाप् (आ)=अशनाया=मतुप्, मस्य वः=अशनायावान्।

अन्यस्तु चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय' इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं संकल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति। बौद्धस्तु 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय इत्यादिश्रुतेः कर्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्ताहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति।

वि० म०—मनआत्मवादिमतमुत्थापयति अन्यस्तु प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मेति

भवत् । मनसि सुप्ते विलीने प्राणादेरभावादृतिवच्छ्वासोच्छ्वासदर्शनस्य द्रष्टृदृष्ट्यध्यारोपितत्वादिन्द्रियाभावेऽपि स्वप्नस्मृत्योर्मनसि सम्प्रतिपत्तेर्मन एवात्मेत्यर्थः । यद्वा प्राणादेरभावादिति तद्व्यापारोपरमे सुषुप्त्यादौ तस्याभावमुपचर्येदमुच्यते । तथा चेन्द्रियेषूपसंहृतव्यापारेषु प्राणे चोपसंहृतप्राणनापाननेतरवृत्तौ मनसैव केवलेन स्वप्नादेरुपलम्भनान्मन एवात्मेत्यर्थः । मनसश्च संकल्पादिधर्मवत्त्वं प्रसिद्धमित्यनुभवोक्तिः स्पष्टार्था ।

योगाचारमतमुत्थापयति बौद्धस्तु इति । मनोमयादन्योऽन्तरोऽभ्यन्तर आत्मा विज्ञानमयः क्षणिकविज्ञानमय इति बौद्धाभिप्रायः । बुद्धिः क्षणिकविज्ञानमात्मेत्यत्रानुभवमाह अहं कर्तेति । मनस एव कर्तृत्वं स्यात् किं विज्ञानेनेत्याशङ्क्य मनसः करणपक्षपातित्वान्न कर्त्रनुभवगोचरत्वमित्यभिप्रेत्य युक्तिमाह कर्तृरभाव इति । मनसः कर्तृत्वे सर्वेन्द्रियाणां स्वस्वविषयैर्युगपत्सम्बन्धे युगपज्ज्ञानोदयप्रसङ्गः कर्तुर्मनसः सर्वैरिन्द्रियैरधिष्ठातृत्वेन युगपत्सन्निहितत्वादपेक्षणीयान्तरानभ्युपगमाच्च । न चैवं दृश्यते तस्मान्मनसोऽन्यः कर्ता । मनस्तु विज्ञानक्रमहेतुः साधारणं करणमेवेत्यर्थः । एवं वेदवाह्यवादानुपन्यस्य विज्ञानमयकोशपर्यन्तमात्मनः प्रत्यक्त्वमवगमितम् । न च क्षणिकविज्ञानस्यैवात्मत्वमध्यवसातुं शक्यं ज्ञानेच्छाप्रयत्नसंस्कारस्मृतीनामेकाश्रयत्वनियमात्तेषां च क्रमिकत्वात्क्षणिकविज्ञानाश्रयत्वानुपपत्तेः । ज्ञानादीनामेकाश्रयत्वाभावे तु वस्तुनि दृष्टे पूर्वदृष्टसजातीयत्वादिलिङ्गवशादिष्टसाधनतानुमानपूर्वकं प्रवृत्त्याद्यभावः प्रसज्येत । अन्यदृष्टेऽन्यस्मरणानुपपत्तेः । उक्तं च न्यायकुसुमाञ्जलौ—

'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात् ।
वासनासंक्रमो नास्ति न च मत्यन्तरं स्थिरे ॥' इति ।

अनुवाद—अन्य चार्वाकमतानुयायी 'आन्तरिक आत्मा (शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि से भिन्न) मनोमय है' (तैत्ति० २।३।१) इत्यादि श्रुति-वचन के प्रमाण से, मन के सो जाने पर प्राण आदि का अभाव प्रतीत होने से तथा 'मैं संकल्पयुक्त हूँ', 'मैं विकल्पयुक्त हूँ' इत्यादि अनुभव होने से मन को आत्मा मानता है।

विज्ञानवादी बौद्ध 'आन्तरिक आत्मा (शरीर, प्राण आदि से भिन्न) विज्ञानमय है' (तै० २।३।१) इत्यादि श्रुति-वचन के प्रमाण से, कर्ता (विज्ञान) के अभाव में करण (इन्द्रिय) की शक्ति का अभाव हो जाने से तथा 'मैं कर्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ' इत्यादि (बुद्धि-बल के कारण) अनुभव होने से विज्ञान (बुद्धि) को आत्मा मानता है।

टिप्पणी—(१) **मनसि सुप्ते**—अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में मन के सो जाने पर प्राण आदि की सत्ता की अनुभूति नहीं होती है। (२) **बौद्धस्तु**—अर्थात् योगाचारमतानुयायी क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध। विज्ञानवादी बौद्ध चित्त को ही बुद्धि, मन या विज्ञान कहते हैं। उनके मन में चैतन्य होने के कारण यह चित्त कहलाता है, मननात्मक होने के कारण मन और विषयों का ग्रहण करने के कारण विज्ञान। जो बाह्य जगत् हमें दिखाई देता है, वह चित्त से बनता है। जिस प्रकार स्वप्न में दृष्ट पदार्थ चित्त से ही उत्पन्न होता है, उसी प्रकार बाह्य जगत् की सभी चीजें चित्त से ही उत्पन्न होती हैं। वह विज्ञान क्षणिक है, एक क्षण रहकर नष्ट हो जाता है और दूसरे क्षण के विज्ञान

को जन्म दे देता है। इस प्रकार विज्ञान की परम्परा निरन्तर चलती रहती है। यही है बौद्धों का विज्ञानवाद।

प्राभाकरतार्किकौ तु 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय' इत्यादि-श्रुतेर्बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनादहमज्ञोऽहमज्ञानीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानमात्मेति वदतः। भाट्टस्तु 'प्रज्ञानघन एवानन्दमय' इत्यादि-श्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनु-भवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यम् आत्मेति वदति।

वि० म०—क्षणिकपक्षे बन्धमोक्षयोरपि वैयधिकरण्यमित्यादि बहुदुष्टत्वादनादरणीयः। क्षणिकविज्ञानात्मपक्ष इत्यभिप्रेत्य वेदवादिपक्षमाश्रित्य विज्ञानादप्यन्तरमात्मानं निर्दिधारयिषुस्तावत्तत्रापि स्थूलदर्शिमतभेदमाह प्राभाकर इत्यादिना। प्राभाकर-तार्किकावज्ञानमात्मेति वदत इत्यन्वयः। अज्ञानं क्षणिकविज्ञानादन्यत्तदधिकरणं द्रव्यरूपमात्मतत्त्वमिति वदत इत्यर्थः। विज्ञानमयादप्यन्तरे आत्मनि श्रुतिं प्रमाणयति अन्योऽन्तर आत्मेति। विज्ञानमयादानन्दमयोऽन्य इति यावत्। न चानन्दमयः परमात्मेति त्वम्पदार्थमध्ये न तस्योदाहरणं युक्तमिति वाच्यमन्नमयादिविकारप्रायपठितमयट्श्रुतिविरोधात्प्रियशिरस्त्वादिवचनविरोधाच्च। एतच्च भाष्यकारैः 'आनन्दमयोऽभ्या-सात्' (ब्रह्मसूत्र १।१।१२) इत्यस्मिन्नधिकरणे निर्णीतम्। तस्माद्युक्तमेव त्वम्पदार्थमध्य आनन्दमयश्रुत्युदाहरणमिति द्रष्टव्यम्। सुषुप्तौ बुद्ध्यादीनां ज्ञानसुखदुःखेच्छादीनामज्ञाने ज्ञानभिन्न आत्मनि लयदर्शनादभावदर्शनान्न ज्ञानमात्मेति युक्तिमाह बुद्ध्यादीनामिति। सर्वज्ञानाभावस्य सुषुप्तौ सम्प्रतिपन्नत्वात्सुषुप्तिजागरितयोरप्यात्मैक्यप्रत्यभिज्ञानान्न ज्ञान-मात्मा किन्तु तदन्य एवेति भावः। अनुभवमाह अहमज्ञ इति। अहमज्ञो ज्ञानहीनोऽहं ज्ञानी ज्ञानवानित्यनुभवोऽपि ज्ञानात्मनोर्धर्मधर्मिभावेन भेदं द्रढयतीत्यर्थः।

मतान्तरमाह भाट्ट इति। भाट्टस्त्वज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदतीत्यन्वयः। अज्ञानोपहितत्वमज्ञानसंवलितत्वं ज्ञानाज्ञानरूपत्वं तदपि द्रव्यबोधरूपत्वमिति यावत्। तत्र माण्डूक्यश्रुतिं प्रमाणयति प्रज्ञानघन इति। प्रज्ञानघनःप्रज्ञानैकरसः। एवकारेण रसान्तरसम्बन्धं वारयति। आनन्दमय इत्यानन्दप्रचुरो नानन्दविकारः। प्राचुर्यार्थे मयट् (पाणि० ५।४।२१) अन्तर्निर्देशादीषदानन्दस्वभावतापि द्रव्यांशकृतात्मनि गम्यत इति भावः। युक्तिमाह सुषुप्ताविति। सुषुप्तौ प्रकाशाभावे सुषुप्तिरसाक्षिकेति सुखमहमस्वाप्स-मित्युत्थितस्य परामर्शो न स्यान्न तदेन्द्रियमनसां व्यापारोऽस्ति येन तज्जन्यज्ञानेनापि तत्परामर्शः स्यात्। नाप्यविद्या प्रकाशिका जडत्वात्। परिशेषादात्मैव बोधांशः प्रका-शक इति प्रकाशसद्भावसिद्धिः। न किञ्चिदवेदिषमिति परामर्शादात्मन्येव सुषुप्तावशेष-विज्ञानाभाववत्त्वमपि कल्प्यतेऽतस्तत्राप्रकाशो द्रव्यांशश्चास्तीति भावः। ननु सुषुप्तावे-वात्मनो ज्ञानाज्ञानरूपत्वं नावस्थान्तर इत्याशङ्कामनुभवाभिनयेन प्रत्याचष्टे मामह-मिति। अहमित्यात्मनि कर्तरि भासमानेऽपि मां न जानामीत्यनुपसंहृतविशेषस्य तथैव

कर्मत्वमपि तस्मिन्नेव ज्ञाने भासत इत्यवस्थान्तरेऽपि द्व्यात्मक आत्मेत्यभिप्रायः। ज्ञानस्यात्मधर्मत्वेऽपि न ततोऽत्यन्तभेदस्तादात्म्याङ्गीकारात्। समवायस्य च समवायिभ्यां सह सम्बद्धत्वासम्बद्धत्वविकल्पासहत्वेनाप्रामाणिकत्वादिति भावः।

अनुवाद—प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक तथा नैयायिक (विज्ञान आदि से) 'इतर आन्तरिक आत्मा आनन्दमय है' (तै० २।५।१) इत्यादि श्रुति-वचन से, बुद्धि आदि का अज्ञान में लय देखे जाने से तथा 'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं अज्ञानी हूँ' इत्यादि अनुभव से अज्ञान को आत्मा मानते हैं।

कुमारिलभट्टमतानुयायी मीमांसक 'प्रज्ञानघन आत्मा ही आनन्दमय है' (माण्डू० ५) इत्यादि श्रुति-वचन से, सुषुप्तिकाल में प्रकाश (चैतन्य) तथा अप्रकाश (अज्ञान) का सद्भाव रहने से तथा 'मैं नहीं जानता हूँ' इत्यादि अनुभव से अज्ञान द्वारा उपहित चैतन्य को आत्मा मानता है।

टिप्पणी—(१) प्राभाकरतार्किकौ—प्राभाकर (मीमांसक) तथा नैयायिक आत्मा को द्रव्य मानते हैं। द्रव्य होने से वह जड है, अतः अज्ञानस्वरूप है। इसी तर्क के आधार पर यहाँ उन दोनों के मतों में आत्मा को अज्ञानरूप में उल्लिखित किया गया है। वैसे वे दोनों ज्ञान को आत्मा का धर्म मानते हैं तथा धर्म को धर्मी से पृथक्। इस दृष्टि से भी उनके मत में आत्मा ज्ञान से अलग (अज्ञान रूप) हुआ।

(२) प्रज्ञानघनः—स्वप्न और जाग्रत् अवस्था में होने वाले मन के स्पन्दन प्रज्ञान कहलाते हैं, जिस अवस्था में घनीभूत जैसे हो जाते हैं, वह सुषुप्ति की अवस्था अविवेकी होने के कारण प्रज्ञानघन कही जाती है—'स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीव सेयमवस्थाविवेकरूपत्वात् प्रज्ञानघन उच्यते' (शांकरभाष्य)।

अपरो बौद्धः 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति।

वि० म०—माध्यमिकमतमुत्थापयति अपरो बौद्ध इति। इदं नामरूपात्मकं जगदग्रे सृष्टेः प्राक्कालेऽसच्छून्यमेवासीदिति बौद्धाभिप्रायेण श्रुतेरर्थः। युक्तिमाह सुषुप्ताविति। तामेव स्वानुभवोपन्यासेन द्रढयति अहमिति। अतः शून्यमात्मा सर्वाभावरूपो न द्रव्यबोधात्मक इति भावः।

अनुवाद—दूसरा (शून्यवादी) बौद्ध 'पूर्व में यह असत् (शून्य) ही था' (छा० ६।२।१) इस श्रुति-वचन से सुषुप्ति-अवस्था में सबका अभाव होने से तथा 'सुषुप्ति में मैं नहीं था' ऐसा जागने पर अपने अभाव के बोधरूपी विषय का अनुभव होने से शून्य को आत्मा मानता है।

टिप्पणी—अपरो बौद्धः—माध्यमिकमतावलम्बी शून्यवादी बौद्ध। इसके मत में शून्य ही एक मात्र सत्य है, जगत् आदि सब मिथ्या हैं। किन्तु यह शून्य खालीपन नहीं है, अपितु वेदान्ती के अज्ञान की तरह सत् और असत् दोनों से भिन्न है, अतएव अनिर्वचनीय है। शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन हैं।

१६. पुत्रादीनामात्मत्वखण्डनम्

एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते । एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तरश्रुतियुक्त्यनुभवाभासैरात्मत्वबाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव ।

वि० म०—एवं प्रत्यगात्मत्वाधिष्ठानं मतभेदेनोपन्यस्तं दूषयितुमारभते **एतेषाम्** इति । तत्र तावत्पूर्वपूर्ववादिमत्तरोत्तरवादिमतेन दूषितमिति । पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्यानात्मत्वं तैरेव वादिभिः स्फुटीकृतमित्याह **एतैरिति** ।

अनुवाद—इन पुत्र आदि का आत्मा न होना प्रतिपादित किया जा रहा है । इन अत्यन्त साधारण बुद्धि वाले आदि पूर्वपक्षियों के द्वारा कहे गये श्रुति-वचनों, युक्तियों तथा अनुभवाभासों में, पूर्व-पूर्वोक्त श्रुतिवचनों, युक्तियों तथा अनुभवाभासों का उत्तरोत्तर (अर्थात् बाद के) श्रुति-वचनों, युक्तियों तथा अनुभवाभासों द्वारा आत्मत्व के सम्बन्ध में बाध हो जाने से पुत्र आदि का आत्मा न होना स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी-एतेषां पुत्रादीनाम्···भाव यह है कि ऊपर पुत्र आदि को आत्मा सिद्ध करने में जो श्रुतियाँ, युक्तियाँ तथा अनुभव प्रमाण रूप से उपस्थित किये गये हैं, उनका खण्डन बाद की श्रुतियों, युक्तियों तथा अनुभवों से अपने आप हो जाता है । जैसे, (१) 'आत्मा वै जायते पुत्रः' की बाधक श्रुति है—'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत' (कठो० ४।१)। (२) 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' की बाधक श्रुति है—'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृह० ३।८।८)। (३) 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः' की बाधक श्रुति है—'अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् (मुण्ड० १।१।६) (४) अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः,' (५) 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' की बाधक श्रुति है—'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २।१।२)। (६) 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' की बाधक श्रुति है—'अनन्तश्च आत्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता' (श्वेत० उ० १।६)। (७) 'अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' की बाधक श्रुति है—'न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाऽहम्' (कैवल्य० २१)। (८) 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः' की बाधक श्रुति है—'चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः' (कैवल्य० १८)। (६। 'असदेवेदमग्र आसीत्' की बाधक श्रुति है—'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छा० उ० ६।२।१)। इसलिये पुत्रादि से लेकर शून्य पर्यन्त सब में अनात्मत्व सिद्ध होता है।

किञ्च प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादि-

शून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव । अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः । एव मध्यारोपः ।

वि० म०—ननु कथं वावदूकविवादर्शनमात्रेण पुत्रादीनां शून्यपर्यन्तानामनात्मत्वमधारयितुं शक्यते श्रुतियुक्त्यनुभवानां प्रत्येकमुपन्यस्तत्वादित्याशङ्क्य सत्यमुपन्यस्तास्तैः श्रुत्यादयः किन्तु ते सर्व एवाभासा. पुत्रादिशून्यपर्यन्तातिरिक्तप्रत्यगात्मस्वरूपसमर्थकप्रबलश्रुतियुक्त्यनुभवविरोधादित्याह किञ्चेति । न केवलं परस्परविगीतत्वादेव पुत्रादीनामनात्मत्वं किन्तु प्रबलश्रुत्यादिभिः पूर्वेषां श्रुत्यादीनां बाधितत्वादपीति योजना । तत्र 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः प्रत्यक्श्रुत्या बाधः । प्रत्यक्त्वं नाम सर्वान्तरत्वम् । 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इति श्रुतेरस्थूलश्रुत्या बाधः । 'ते ह प्राणाः प्रजापतिम्' इत्यादि श्रुतिसामर्थ्यसिद्धीन्द्रियात्मत्वस्याचक्षुरित्यादिना बाधः । 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' इत्यनयोरप्राणोऽमना इत्याभ्यां बाधः । 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इत्यस्याः श्रुतेरकर्तेत्यनेन बाधः । 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' इत्यस्याश्चैतन्यमित्यनेन बाधः । 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः' इत्यस्याश्चिन्मात्रमित्यनेन बाधः । असदेवेदम्' इत्यस्याः सदित्यनेन बाध इति प्रत्येकं योजनीयम् । अत्रोदाहृतश्रुतीनामित्थमक्षरविन्यासाः क्रमेण द्रष्टव्याः । 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत' (कठ० ४।१) । 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृह० ३।८।८) । 'अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्' (मुण्ड० १।१।६) 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (२।१।२) । 'अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता' (श्वेता० १।९) ।' 'न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्' (कैवल्य० २।१) । 'चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः' (कैवल्य० १८) । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् (छा० ६।२।१) । 'सत्यं स आत्मा' (छा० ६।८।७) इति । आदिशब्दात् 'एष स आत्मा सर्वान्तरः' (बृह० ३।४।१) 'अशरीरं शरीरेषु' (कठ० २।२२) 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुपश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः' (बृह० ४।४।१८) 'केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः' (केन० १) 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति० २।४।१) 'न करोति न लिप्यते' (गीता १३।३१) 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता० ६।११) 'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृह० ४।५।१३) 'तन्तमेनं ततो विदुः' (तैत्ति० २।६।१) इत्याद्याः श्रुतयः संगृह्यन्ते ।

इदमत्रानुसन्धेयम् । पुत्रात्मश्रुतिस्तु देहावलम्बिनीति तस्या गौणार्थत्वं स्पष्टमेव । 'ते ह प्राणाः' इति श्रुतिरर्थवादत्वान्न स्वार्थपरा । अन्नमयाद्यानन्दमयान्तश्रुतेर्मुञ्जादिषीकावत्सर्वान्तरब्रह्मपुच्छशब्दवाच्यात्मप्रतिपत्त्युपायार्थत्वेनोपन्यस्तत्वान्न तस्याः स्वार्थपरत्वम् । प्रत्यगादीनां सिद्धान्त्युपन्यस्तश्रुतिवचनानां तु वक्ष्यमाणोपक्रमादिलिङ्गैरात्मयाथात्म्यपरत्वमिति युक्तं प्राबल्यमिति ।

पुत्रादिशून्यपर्यन्तं न नित्यं जडत्वाद्घटादिवत् । नित्यश्चात्मा तदनित्यत्वेऽकृताभ्यागमकृतविनाशप्रसङ्गात् । अतो न पुत्रादीनामात्मत्वमिति युक्तिमाह **अस्य** इति । जडत्वमुपपादयति **चैतन्यभास्यत्वेन** इति । न चात्मनोऽपि चैतन्यभास्यत्वं कर्मकर्तृभावविरोधात् ।

कर्तृत्वं हि क्रियां प्रति गुणभावः कर्मत्वं तु प्राधान्यम्। तथा चैकस्यां क्रियायामेकस्यात्मनो युगपद्विरुद्धधर्माश्रयत्वे वैरूप्यप्रसङ्गः। नापि ज्ञानाश्रयत्वेनात्मनो भावं सम्भवति ज्ञानभिन्नस्य ज्ञानकर्मत्वेनैवापरोक्षत्वनियमात्। नापि नित्यानुमेयोऽसन्दिग्धत्वात्। न हि कदाचिदात्मन्यहमस्मि नास्मि चेति संदेहः कस्यचिद् दृश्यते। परिशेषात् स्वयम्प्रकाश इति न तस्य चैतन्यभास्यता। श्रुतयश्च भवन्ति स्वप्रकाशसाधिकाः परप्रकाश्यतामनुमानविरोधिन्यः। 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' (बृह० ३।४।२) 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृह० २।४।१४) 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (केन ३) 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' (बृह० ४।३।६) 'आत्मैवास्य ज्योतिः' (बृह० ४।३।६) 'अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति० २।४।१) 'यन्मनसा न मनुते' (केन० ५) इत्येवमाद्याः।

ननु न चायमात्माणुपरिमाणवांस्तथा सति सकलशरीरव्यापिचैतन्यानुपलम्भप्रसङ्गात्। नापि मध्यमपरिमाणो मध्यमपरिमाणवतः सावयवत्वेनानित्यत्वप्रसङ्गात्। 'एवं चात्मा कार्त्स्न्यम्' (ब्रह्मसूत्र २।२।३४) इति न्यायनिरस्तत्वाच्च। नापि परममहत्परिमाणउत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिविरोधात्। अतः किम्परिमाणोऽयं प्रत्यगात्मेति। उच्यते। स्वतस्तावदखण्डब्रह्मात्मस्वभावत्वात् 'स वा एष महानजः आत्मा' (बृह० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतेश्च परममहत्परिमाण एव। ब्रह्मात्मस्वभावत्वं चास्य प्रवेशश्रुतिभ्यः। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तैत्ति० २।६।१)। 'स एवमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐत० ३।१२) 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' (बृह० १।४।७) 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) 'सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' (तैत्ति० आ० ३।१२।७) 'एको देवो वहुधा सन्निविष्टः' (तैत्ति० आ० ३।१४।१) 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेमजोऽयमात्मा' 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्' (बृह० २।५।१८) रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (बृह० १६) 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (कठ० ५।६) इत्येवमादिभ्यः।

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि······(गीता १३।२)
'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'। (गीता १०।२०)
'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'। (गीता १५।७)

इत्यादि स्मृतिभ्यश्च। संसारित्वावस्थायामेव तस्योपाधिनिबन्धनं परिच्छिन्नपरिमाणम्। तच्च यथापाध्यनुरूपत्वादनियतम्। तथा च दर्शयति श्रुतिः।

'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः'।
आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः'। (श्वेता० ५।८)
'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः······'। (श्वेता० ५।९)
'नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते'॥ (श्वेता० ५।१०)।

इत्यादिवचनैः। 'स च प्रतिशरीरमभिन्न एव' 'एको देवो बहुधा सन्निविष्टः' (तैत्ति० आ० ३।१४।१) 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद १।१६४।४६) 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' (ऋग्वेद १०।११४।५) 'त्वमेकोऽसि बहुतनुप्रविष्टः' (तैत्ति० आ० ३।१४।३) 'इन्द्रस्यात्मानं शतधा चरन्तम्' (तैत्ति० आ० ३।११।५) 'एकः सन्बहुधा विचारः' (तैत्ति० आ० ३।११।१) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः। तस्माद्देहेन्द्रियप्राण-मनोबुद्ध्यव्याकृतविलक्षणस्तत्साक्षी चिद्धातुः सद्रूपः प्रत्यगात्मेति निश्चितोऽर्थः।

अनुभवप्राबल्यं दर्शयति अहम् इति। 'तं न पश्यन्त्यकृत्स्नो हि सः प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति' (बृह० १।४।७) इत्युपक्रम्य प्राणाद्यात्मविज्ञानमकृत्स्नविषयतादोषेण निन्दित-त्वाच्च तु 'आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति' (बृह० १।४।७) इति कृत्स्ना-त्मस्वभावं वेदितव्यं निर्दिश्य 'तदेतत्पदनीयस्य सर्वस्य यदयमात्मा' (बृह० १।४।७) इति तदतिरिक्तस्य ज्ञातव्यस्यानवशेषं दर्शयन्ती श्रुतिस्तद्विज्ञानवत एव विद्वत्तां सूचयति। तथोत्तरत्रापि 'तदाहुर्यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेत्' (बृह० १।४।९) इति च विद्वदनुभवत्वं ब्रह्मात्मज्ञानस्य दर्शयति। अत इतोऽर्वाक्षु देशेषु प्रत्यगात्मत्वाभिमानो भ्रान्तिरिति भावः।

प्रत्यगात्मविषयाध्यारोपमुपसंहरति अत इति। वेदान्तविद्वदनुभव इति विशेषणेन मतान्तरेऽनुभवस्य मूलप्रमाणशैथिल्यं सूचयति। अध्यारोपप्रकरणमुपसंहरति **एवमिति**।

अनुवाद—और आत्मा को प्रत्यक्, अस्थूल, अचक्षु, अप्राण, अमनाः, अकर्ता, चैतन्य, प्रकाशस्वरूप तथा सत् बताने वाली प्रबल श्रुतियों के विरोध होने से, पुत्र आदि से लेकर शून्य तक जड़ जगत् के चैतन्य द्वारा आभासित होने के कारण घट आदि पदार्थों के समान अनित्य होने से तथा 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार विद्वानों के अनुभव की प्रबलता से उन-उन श्रुति-वचनों, युक्तियों तथा अनुभवाभासों का बाध हो जाने के कारण पुत्र आदि से लेकर शून्यपर्यन्त सब अनात्मा ही हैं (आत्मा नहीं हैं)। इसलिए तत्तत् (अनात्म) वस्तुओं का प्रकाशक, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा सत्य स्वभाव वाला आन्तरिक चैतन्य ही आत्म-वस्तु है, यह वेदान्त के विद्वानों का अनुभव है। इस प्रकार अध्यारोप को बता दिया गया।

टिप्पणी—(१) अस्थूलोऽचक्षुः—.........इसका तात्पर्य है कि आत्मा अस्थूल अचक्षु आदि होने के कारण पुत्र आदि से भिन्न है। इस प्रकार प्रबल श्रुति-प्रमाण से वादियों द्वारा दिये गये समस्त श्रुति-प्रमाणों का निराकरण हो जाता है। किन्तु यहाँ एक प्रश्न खड़ा हो जाता है कि पुत्रादि के आत्मत्व का समर्थन करने वाली श्रुतियाँ प्रामाणिक हैं या आत्मत्व का खण्डन करने वाली श्रुतियाँ प्रामाणिक हैं। वेद-वाक्यों में कुछ प्रामाणिक हैं और कुछ अप्रामाणिक हैं, ऐसा तो कह नहीं सकते। यदि ऐसा कहें तो पुत्रादि को आत्मा बताने वाली श्रुतियाँ ही क्यों न प्रामाणिक मान ली जायँ? इसका समाधान यह है कि पुत्रादि के आत्मत्व की समर्थक श्रुतियाँ अप्रामाणिक हैं, ऐसी बात नहीं है, बल्कि 'अस्थूलः, अचक्षुः, अप्राणः, अमनाः' इत्यादि श्रुतियों के विरोध से यह तात्पर्य है कि उनका स्वार्थ में कोई तात्पर्य नहीं है, अपितु स्थूलारुन्धती-

न्याय से पूर्व श्रुतियों के निराकरण द्वारा सूक्ष्म-सूक्ष्म वस्तु के समझाने में उनका तात्पर्य है। (अरुन्धतीन्याय का परिचय पहले दिया जा चुका है)।

(२) पुत्रादिशून्य—इससे वादियों द्वारा दी गई युक्तियों का खण्डन किया गया है। (३) अहं ब्रह्मेति—इससे वादियों के अनुभव-प्रमाण का खण्डन किया गया है।

२० अपवाद:

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तु-विवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। तदुक्तम्-

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥ इति

वि० म०—एवमध्यारोपं सप्रपञ्चं निरूप्यापवादमिदानीं निरूपयिष्यंस्तल्लक्षणमाह **अपवादो नाम** इति। कार्यस्य कारणमात्रसत्तावशेषणं कारणस्वरूपव्यतिरेकेण कार्यस्यासत्तावधारणं वापवाद इत्युक्तं भवति। एवं लक्षणोऽपवादः केन क्रमेणेत्यपेक्षायां 'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च' इति न्यायमाश्रित्य (ब्रह्मसूत्र २।३।१४) उत्पत्तिक्रमवैपरीत्येनापवादं क्रमेण दर्शयति तथा हीत्यादिना।

अनुवाद—रस्सी के विवर्त (रूपान्तर या अज्ञानजन्य मिथ्या रूप) साँप का निराकरण होने पर रस्सी मात्र के बोध के समान वस्तु (ब्रह्म) के विवर्त अवस्तु अज्ञान आदि समस्त जगत् का निराकरण होने पर वस्तुमात्र (ब्रह्म) का बोध होना अपवाद है। जैसा कि कहा गया है—

किसी वस्तु का तत्त्वतः बदल जाना (अर्थात् अपने रूप का त्यागकर अन्य रूप का ग्रहण कर लेना) विकार कहलाता है और तत्त्वतः न बदलने पर भी दूसरे रूप में प्रतीत होना (अर्थात् अपने रूप का परित्याग किये बिना दूसरी वस्तु भासित होना) विवर्त कहलाता है।

टिप्पणी—(१) पहले अध्यारोप का प्रकरण बतलाया गया, अब अपवाद का प्रकरण आरम्भ करते हैं। अपवाद अध्यारोप के विपरीत होता है। अध्यारोप में वस्तु को अवस्तु समझ लिया जाता है। जैसे—अँधेरे में पड़ी रस्सी (वस्तु) को कोई सर्प (अवस्तु) समझ लेता है। किन्तु अपवाद में उस समझ को हटा दिया जाता है। जैसे—अँधेरे में जो रस्सी में साँप का मिथ्या ज्ञान हुआ था, वह प्रकाश में उस रस्सी को देखने पर हट जाता है अर्थात् वह समझ लेता है कि यह साँप (अवस्तु) नहीं, रस्सी (वस्तु) है--ऐसा ज्ञान हो जाना अपवाद है।

(२) **अन्यथाभाव**--मिथ्या प्रतीति रूप अन्यथाभाव दो प्रकार का होता है-(१) परिणामभाव या विकारभाव, (२) विवर्तभाव। जब कोई वस्तु अपने स्वरूप को छोड़कर किसी दूसरे रूप को ग्रहण कर लेती है तो उसे परिणाम या विकारभाव

कहते हैं, जैसे दूध का दही रूप में परिणत हो जाना परिणाम या विकारभाव है। जब वस्तु में परिवर्तन आये बिना ही उसमें अन्य मिथ्या वस्तु की प्रतीति हो तो वह मिथ्या प्रतीत होने वाली अवस्तु वस्तु का विवर्त कहलाती है, जैसे साँप रस्सी का विवर्त है। इसी प्रकार यह सांसारिक प्रपञ्च भी ब्रह्म का विवर्त है। उसको हटाकर ब्रह्ममात्र का ही भान होना अपवाद है।

तथाहि। एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं भोग्यरूपान्नपानादिकमेतदायतनभूतभूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदायतन-भूतं ब्रह्माण्डं चैतत् सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतदज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यं चेश्वरादिकमेतदाधार-भूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति।

वि० म०—एतद्भोगायतनम् इति प्रत्यक्षसिद्धं चतुर्विधभूतग्रामं चरमकार्यमङ्-गुल्या निर्दिशति। द्वितीय एतच्छब्दोऽन्नादिविषयः। आदिशब्दः यानादिसङ्ग्रहार्थः। भूरादिचतुर्दशभुवनानि तृतीयैतच्छब्दार्थः। एतत्सर्वमित्यत्रैतच्छब्द उक्तसमस्तसंग्रहार्थः। एतेषामित्यस्यापि स एवार्थः। उत्पत्तिव्युत्क्रमेणेत्यस्यायमर्थः। पृथिवी गन्धतन्मात्रिका रसतन्मात्रिकामात्रं भवति। आपश्च ता रूपतन्मात्रात्मकतेजोमात्रं भवन्ति। तच्च तेजः स्पर्शतन्मात्रात्मकवायुमात्रं भवति। स च वायुः शब्दतन्मात्रात्मकाकाशमात्रं भवति। स चाकाशः स्वकारणभूताज्ञानोहितचैतन्यमात्रं भवतीति।

एतदाधारेत्यत्रैतच्छब्दोऽज्ञानतदुपहितचैतन्यविषयः। एतदाधारेत्यादिब्रह्मान्तानां पदानां कर्मधारयः। तथा च स्मृतिश्रुती भवतः।

'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले सम्प्रलीयते॥' इति (महाभा० १२)
'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः'

(इति च कठ० ३।११)

अनुवाद—वही (अपवाद की प्रक्रिया) दिखलाते हैं—यह भोग का आश्रय चारों प्रकार के स्थूल शरीरों का समूह, भोग्य-रूप अन्न, पान आदि तथा इनके आधारभूत भूः आदि चौदह लोक, और उन (लोकों) का आधारभूत ब्रह्माण्ड—ये सब अपने कारणरूप पञ्चीकृत महाभूत हो जाते हैं (अर्थात् महाभूतों में विलीन हो जाते हैं)। ये शब्द आदि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) सहित पञ्चीकृत भूत तथा सूक्ष्म शरीरों का समूह—ये सब अपने कारणरूप अपञ्चीकृत भूत मात्र (में विलीन) हो जाते हैं। ये सत्त्व आदि गुणों सहित अपञ्चीकृत महाभूत भी उत्पत्ति के विपरीत क्रम से अपने कारणभूत अज्ञानोपहित चैतन्य मात्र (में विलीन) हो जाते हैं। और यह अज्ञान, उससे उप-

हित चैतन्य ईश्वर आदि अपने आधाभूत अनुपहित चैतन्यरूप तुरीय ब्रह्म (में लीन) हो जाते हैं।

टिप्पणी—उत्पत्तिव्युत्क्रमेण—पञ्चभूतों की उत्पत्ति का जो क्रम कहा गया है, उसके विपरीत क्रम से अर्थात् पृथिवी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश अव्यक्त में और अव्यक्त निष्कल ब्रह्म में विलीन हो जाता है। यह क्रम महाभारत में उल्लिखित है। दे० ऊपर वि० म०। यहाँ कहने का तात्पर्य है कि अध्यारोप में जिस वस्तु की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई, उसका अपवाद होने पर सबसे अन्त में लय होता है। अध्यारोप में उत्पत्ति का क्रम यह है—अज्ञानोपहित चैतन्य से अपञ्चीकृतभूत, उससे पञ्चीकृतभूत, उससे सूक्ष्म शरीर, उससे स्थूल शरीर और उससे स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति हुई। अपवाद में लय इस प्रकार होता है—स्थूल प्रपञ्च का स्थूल शरीर में, उसका सूक्ष्म शरीर में, उसका अपञ्चीकृत भूत में, उसका अज्ञानोपहित चैतन्य में और उसका तुरीय चैतन्य में लय हो जाता है।

२१ तत्त्वम्पदार्थशोधनम्

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति। तथा हि। अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति। अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहितात्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति।

वि० म०— अध्यारोपापवादनिरूपणे फलमाह **आभ्याम्** इति। ब्रह्मात्मचैतन्यस्याद्वितीयप्रत्यग्रूपतानिरूपणार्थत्वादध्यारोपादिप्रपञ्चनस्य पदार्थशुद्धिरवान्तरफलमिति सूचयितुं **पदार्थशोधनमपि** इत्युक्तम्। तत्त्वम्पदयोः प्रत्येकं द्विविधोऽर्थो वाच्यो लक्ष्यश्चेति। तदुभयं विभज्य दर्शयति तथाहीत्यादिना। समष्ट्यज्ञानं तदुपहित ईश्वरस्तदुभयाश्रयमनुपहितं स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितमक्षरशब्दवाच्यं चिन्मात्रमित्येतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदविविक्तं तत्पदवाच्यार्थ इत्यर्थः। आदिपदात् समष्टिहिरण्यविराजौ गृह्येते। तत्राज्ञानादिव्यष्टिरित्यत्रादिपदात्सूक्ष्मशरीरस्थूलशरीरं गृह्यते। एतदनुपहितं प्रत्यक्चितिमात्रम्। शेषं पूर्ववत्। उभयत्रापि यथायोगमव्याकृतं समष्टिस्वप्नजागरौ सुषुप्तिर्व्यष्टिस्वप्नजागरौ चेत्येवमवस्थात्रययुक्तमिति योजयितव्यम्। अज्ञानतत्कार्यसमस्तप्रपञ्चेषु सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनानुस्यूतं चित्सदानन्दाद्वयात्मकं वस्तु तत्पदलक्ष्यार्थः। देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहंकृतितद्धर्मजाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाभ्यो विलक्षणस्तत्साक्षी चिद्धातुस्त्वम्पदलक्ष्यार्थ इत्याह एतदुपाध्युपहितेति।

अनुवाद--इन दोनों अध्यारोप और अपवाद से (छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक ऋषि द्वारा श्वेतकेतु के प्रति कहे गये 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में) तत् और त्वम् पदों का अर्थ भी शोधित (स्पष्ट) हो जाता है। वह इस प्रकार है—(उक्त वाक्य) अज्ञान आदि की समष्टि, उससे उपहित सर्वज्ञत्व आदि से युक्त चैतन्य (ईश्वर) तथा अज्ञान से अनुपहित चैतन्य (ब्रह्म)--ये तीनों तपे हुए लोहे के गोले के समान एकत्वेन अवभासित होते हुए 'तत्' पद के वाच्यार्थ (अभिधेय अर्थ) होते हैं। (अर्थात् जिस प्रकार 'अयो दहति' इस वाक्य में 'अयस्' पद से अग्नि, अग्नि की दाहक शक्ति तथा लोहा—इन तीनों का बोध होता है, उसी प्रकार 'तत् त्वमसि' वाक्य में 'तत्' पद से उक्त अज्ञान की समष्टि आदि तीनों का बोध होता है)। फिर उपाधि (अज्ञान आदि) से उपहित (ईश्वर) का आश्रयभूत एवं उपाधि से रहित चैतन्य 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ (लक्षणा द्वारा प्राप्य अर्थ) होता है। अज्ञान आदि की व्यष्टि, उससे उपहित अल्पज्ञता आदि से युक्त चैतन्य (जीव) तथा उससे अनुपहित चैतन्य (आत्मा)--ये तीनों तपे हुए लोहे के गोले के समान एकत्वेन अवभासित होते हुए 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ होते हैं। फिर इस (अज्ञान) उपाधि से उपहित का आश्रयभूत, उपाधिरहित, आन्तरिक आत्मा, आनन्दरूप, तुरीय चैतन्य 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है।

टिप्पणी—**अज्ञानादिसमष्टिः**:--यहाँ आदि पद से हिरण्यगर्भ और विराट् का ग्रहण होता है। (२) **अज्ञानादिव्यष्टिः**:--यहाँ आदि पद से सूक्ष्म शरीर समझना चाहिए। (३) **वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ**—शब्दों के अभिधा शक्ति द्वारा प्राप्य अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं और लक्षणा शक्ति द्वारा प्राप्य अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं। 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ इस प्रकार हैं-अज्ञान एवं कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल की समष्टि, तदुपहित चैतन्य--सर्वज्ञतादिविशिष्ट ईश्वर, सूत्रात्मा और वैश्वानर चैतन्य तथा एतदनुपहित चैतन्य (तुरीय चैतन्य) इन सबका तप्तायःपिण्ड के समान एक रूप से अवभासित होना 'तत्' पद का वाच्यार्थ है और अज्ञानोपहित ईश्वर चैतन्य का आधारस्वरूप जो उपाधिशून्य चैतन्य है उसका अज्ञान तथा उससे आच्छन्न ईश्वर चैतन्य से अलग भिन्न-भिन्न प्रकाशित होना 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार अभेद विवक्षा रूप से प्रकाशित होना 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ और व्यष्टिगताज्ञानादि तथा उसकी उपाधि से युक्त जीव, चैतन्य और इनके आधारस्वरूप उपाधिशून्य प्रत्यगात्मा तुरीय चैतन्य का भेद-विवक्षा में अलग-अलग प्रतीत होना 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है।

२२ महावाक्यार्थः

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं तत्त्वमसीति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति। तदुक्तम्—

'सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता ।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ॥' इति ।

वि० म०—पदार्थप्रतिपत्तिपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थप्रतिपत्तेरादावध्यारोपापवादाभ्याम-वान्तरवाक्यावष्टम्भेन पदार्थं परिशोध्येदानीं महावाक्यार्थं निरूपयितुमुपक्रमते अथ इति । वाक्याद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिक्रममादौ संगृह्णाति इदमिति । उक्तमेव विभजते सम्बन्धत्रयं नाम इति । उक्ते विभागे नैष्कर्म्यसिद्धिवचनं संवादयति तदुक्तमिति । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यसम्बन्धः सामानाधिकरण्यमिति ।

अनुवाद—अब ('तत्त्वमसि' इस) महावाक्य के अर्थ का वर्णन करते हैं। यह 'तत्त्वमसि' (वह तुम हो)' वाक्य तीन संबंधों के द्वारा अखण्ड चैतन्य रूप अर्थ का बोधक होता है। तीन संबंध ये हैं—(१) पदों का सामानाधिकरण्य, (२) पदों के अर्थों का विशेषण-विशेष्यभाव और (३) पदों के अर्थ तथा प्रत्यगात्मा (ब्रह्म) का लक्ष्य-लक्षणभाव। अतः (नैष्कर्म्यसिद्धि ३।३ में) कहा भी है—पदार्थ और प्रत्यगात्मा में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध तथा लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध हैं।

टिप्पणी—(१) महावाक्य—वेदांत में प्रमुख महावाक्य चार माने जाते हैं, वैसे बारह का भी उल्लेख मिलता है। चार ये हैं - (१) प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत० आर० ५।३)। (२) अहं ब्रह्मास्मि (बृह० १।४।१०)। (३) तत्त्वमसि (छा० ६।८।७) (४) अयमात्मा ब्रह्म (माण्डू० ३)। (२) अखण्डार्थबोधकम्—जो सर्वथा भेदरहित या अंशांशिभाव आदि संबंध से रहित हो, उसे अखंड कहते हैं। ब्रह्म स्वगत, सजातीय एवं विजातीय भेद से शून्य है, अतः वही अखंड अर्थ है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य उसी का बोधक है।

सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च तत्त्वमसीति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।

वि० म०—सामानाधिकरण्यलक्षणमभिप्रेत्य तस्योदाहरणं तत्त्वम्पदयोरनुवर्तयति सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावत् इति। तत्कालोऽतीतकालः। एतत्कालो वर्तमानकालः। परोक्षत्वादीत्यादिशदान्नियन्तृत्वादिग्रहः। अपरोक्षत्वादीत्यादिपदान्नियम्यत्वादिग्रहः।

अनुवाद—सामानाधिकरण्यसम्बन्ध (का उदाहरण), जैसे-'सोऽयं देवदत्तः (यह वही देवदत्त है)' इस वाक्य में 'स' शब्द तत्कालविशिष्ट (अतीतकालवर्ती) देवदत्त का बोधक है और 'अयं' शब्द एतत्कालविशिष्ट (वर्तमानकालवर्ती) देवदत्त का बोधक

है, किन्तु दोनों का देवदत्त पिण्ड रूप एक ही अर्थ प्रकट करना तात्पर्य है। अतः इस तात्पर्य का अवबोधक सम्बन्ध सामानाधिकरण्य हुआ। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी 'तत्' पद परोक्षत्व आदि से युक्त चैतन्य का बोधक है और 'त्वम्' पद अपरोक्षत्व आदि से युक्त चैतन्य का बोधक है, किन्तु दोनों का एक ही चैतन्य रूप अर्थ के बोधन में तात्पर्य है। (अतः इस तात्पर्य का अवबोधक संबंध सामानाधिकरण्य हुआ)।

टिप्पणी--(१) **सामानाधिकरण्य**--भिन्न-भिन्न अर्थ वाले पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्यावबोध कराने वाला संबंध समानाधिकरण या सामानाधिकरण्य संबंध कहलाता है--'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यसम्बन्धः सामानाधिकरण्यम्'। अथवा समान विभक्ति वाले पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्य होना सामानाधिकरण्य है--'समानविभक्त्यन्तयोः पदयोरेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यम्'। (२) **परोक्षत्वादि**--यहाँ परोक्ष ईश्वर को कहा गया है, क्योंकि श्रवण, आदि के द्वारा साक्षात्कार करने से पूर्व वह परोक्ष ही है। यहाँ आदि पद से ईश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वव्यापित्व आदि गुणों का ग्रहण होता है। जीव प्रत्यक्ष है, अतः उसे अपरोक्षत्वादि विशिष्ट कहा गया है। यहाँ आदि पद से अल्पज्ञता आदि विवक्षित है।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।

वि० म०--व्यवच्छेदकं विशेषणं व्यवच्छेद्यं विशेष्यं तयोर्भावो विशेषणविशेष्यभावः। स एव सम्बन्धः सम्बन्धवदुभयनिरूपणीयत्वादित्यभिप्रेत्य विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धं सदृष्टान्तमाह **विशेषण** इति। सोऽयम्पदार्थयोर्मध्ये कस्य वा विशेषणता कस्य वा विशेष्यता कि तद्विशेषणकृत्यमित्यपेक्षायां द्वयोरपि पदार्थयोः परस्परापेक्षया विशेषणविशेष्यभावो भेदभ्रमापोहश्च विशेषणकृत्यमित्यभिप्रेत्याह अन्योन्यभेदव्यावर्तकतयेति।

अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिर्लक्षणा। सा त्रिविधा जहल्लक्षणाऽजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति। वाच्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा। वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि वृत्तिरजहल्लक्षणा। वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहदजहल्लक्षणा।

अनुवाद--विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध (का उदाहरण), जैसे--उसी (सोऽयं देवदत्तः) वाक्य में 'सः' शब्द का अर्थ तत्कालविशिष्ट देवदत्त है और 'अयं' शब्द का

अर्थ एतत्कालविशिष्ट देवदत्त है। ये दोनों परस्पर भेद का व्यावर्तन करने के कारण एक दूसरे का विशेषण और विशेष्य बनते हैं (अर्थात इस वाक्य में अयं शब्द वाच्य जो यह—एतत्कालविशिष्ट देवदत्त है वह 'सः' इस तत् शब्द वाच्य तत्कालविशिष्ट देवदत्त-पिण्ड से भिन्न नहीं है जब इस प्रकार का बोध होता है तो तत् शब्द इदं शब्द का विशेषण है और इदं शब्द तत् शब्द का विशेष्य है। अतः 'यही वह देवदत्त है' इस प्रकार का बोध होता है और तत्कालविशिष्ट देवदत्त से अन्य देवदत्त की व्यावृत्ति हो जाती है फिर तत् शब्द वाच्य तत्कालविशिष्ट देवदत्त इदं शब्द वाच्य एतत्कालविशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं है ऐसा कहने पर अयं सः का विशेषण और सः उसका विशेष्य है, अतः परस्पर भेदव्यावर्तक होने से 'सः एवायम्' 'अयमेव सः' इस प्रकार सः तथा अयम् दोनों एक दूसरे के विशेषण-विशेष्य होकर विशेष्यभाव सम्बन्ध से देवदत्त पिण्डरूप एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं)।

इसी प्रकार यहाँ भी (तत्त्वमसि) वाक्य में 'तत्' पद का अर्थ परोक्षत्व आदि से युक्त चैतन्य है तथा 'त्वम्' पद का अर्थ अपरोक्षत्व आदि से युक्त चैतन्य है। ये दोनों पदार्थ एक दूसरे में भेद का व्यावर्तन करते हैं, अतः इसमें विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध है (अर्थात् यहाँ जब 'त्वम्' पद वाच्य अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य 'तत्' पद वाच्य सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य से अलग नहीं है-ऐसा बोध होता है तब तत् शब्दार्थ त्व पदार्थनिष्ठ भेद का व्यावर्तक होने के कारण विशेषण है और 'त्वम्' पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य है। फिर जब 'तत्' पद वाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य 'त्वम्' पद वाच्य अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य से भिन्न नहीं है—ऐसी प्रतीति होती है तब 'त्वम्' पदार्थ 'तत्' पदार्थ निष्ठ भेद का व्यावर्तक होने के कारण विशेषण है तथा 'तत्' पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य है। इस विशेषण-विशेष्य-भाव-सम्बन्ध के द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' ये दोनों पद चैतन्य रूप एक अर्थ के बोधक होने के कारण 'तुम वही हो, तुम ही वह हो' ऐसी प्रतीति होती है)।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते।

वि० म०—तत्र प्रकृतवाक्ये लक्ष्यलक्षणसम्बन्धं सोदाहरणमाह **लक्ष्यलक्षणसंबंध** इति। पदवाच्यार्थयोः परस्परविरुद्धत्वान्नान्योऽन्यं विशेषणविशेष्यभाव उपपद्यते। तथा च तत्समर्पकयोरपि पदयोः सामानाधिकरण्यवशात्प्रतीयमानस्यैकवाक्यार्थस्यानुपपत्तिरिति लक्षणायां प्रसक्तायां वक्ष्यमाणप्रकारेण जहदजहल्लक्षणयोः प्रकृतासङ्गतौ पदवाच्यगतविरुद्धांशप्रहाणेनाविरुद्धांशलक्षणया सामानाधिकरण्ये सति वाक्यादखण्डार्थप्रतिपत्तिरिति भावः।

अंशान्तरपरित्यागेनांशान्तरलक्षणाया: शास्त्रप्रसिद्धां संज्ञां संगिरन्ते [illegible]ति । जहदजहल्लक्षणेदं शब्दार्थः । अयं भावः । तत्त्वम्पदयोः सामानाधिकरण्यं तावच्छ्रूयते न तत्तयोर्भिन्नार्थत्वे सम्भवति स्तम्भकुम्भपदयोस्तददर्शनात् । नाप्येकार्थाभिधायकत्वेन वैश्वदेव्यामिक्षेतिवत्तद्धितादेरेकार्थसमर्पकस्य का[illegible]दर्शनात् । तथाहुः ।

'आमिक्षां देवतायुक्तां वदत्येवैष तद्धितः ।
आमिक्षापदसान्निध्यात्तस्यैव विषयार्पणम्' ॥

इति । (तन्त्रवार्तिके २।३।२३)

परिशेषादेकार्थलक्षकत्वेनैवेति ।

अनुवाद—लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्ध (का उदाहरण) जैसे-उसी (सोऽयं देवदत्तः) वाक्य में 'सः' और 'अयम्' इन दोनों में या इनके अर्थों में परस्पर विरोध है (अर्थात् जो देवदत्त तत्काल विशिष्ट है, वही एतत्कालविशिष्ट कैसे हो सकता है ? यही विरोध है) । अतएव विरुद्ध अर्थ के परित्याग द्वारा अविरुद्ध देवदत्त के साथ लक्ष्य-लक्षणभाव सम्बन्ध है (अर्थात् तत्कालविशिष्टत्व और एतत्कालविशिष्टत्व इन विरोधी अंशों को छोड़कर 'सः' और 'अयम्' इन दोनों पदों का एक ही देवदत्त में तात्पर्य ग्रहण करने पर इन दोनों पदों का देवदत्त से लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्ध रहता है) । इसी प्रकार यहाँ भी (तत्त्वमसि) वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' पदों या इनके अर्थों में परस्पर विरोध रखने वाले परोक्षत्व और अपरोक्षत्व आदि की विशिष्टता को छोड़कर अविरुद्ध चैतन्य के साथ लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है (अर्थात् यहाँ 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों या उनके अर्थों में विरोध है, क्योंकि जो परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य है वह अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट कैसे होगा ? अतः परोक्षत्व आदि से विशिष्ट होना तथा अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट होना—इन विरुद्ध अंशों का त्याग करने पर इन दोनों पदों के वाच्यार्थ का अखण्ड चैतन्य के साथ लक्ष्यलक्षण-सम्बन्ध रहता है) । इसी को भाग-लक्षणा कहते हैं ।

टिप्पणी—भागलक्षणा—उपर्युक्त लक्ष्यलक्षणभाव को भागलक्षणा कहते हैं । वैसे लक्षणा के तीन भेद हैं— (१) जहल्लक्षणा, (२) अजहल्लक्षणा, (३) जहदजहल्लक्षणा । (१) वाच्यार्थम् अशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिनि अर्थान्तरेवृत्तिः जहल्लक्षणा—अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ (शक्यार्थ) का पूर्ण रूप से त्याग करके अन्य अर्थ लिया जाय, वहाँ जहल्लक्षणा होती है । इसको लक्षण-लक्षणा' भी कहते हैं । उदाहरण—'गंगायां घोषः'—गंगा में अहीरों की बस्ती है—इस वाक्य में गंगा शब्द का शक्यार्थ (गंगा का प्रवाह-जल) बाधित हो जाता है, क्योंकि प्रवाह में कोई बस्ती नहीं हो सकती । अतः प्रवाह रूप अर्थ का सर्वथा त्याग करके 'गंगा के तट पर अहीरों की बस्ती है'—ऐसा अर्थ लिया जाता है । यह लक्ष्यार्थ है । किन्तु गंगा का अर्थ यहाँ गंगा-तट ही लेना होगा, तट मात्र नहीं, अन्यथा किसी भी नदी के तट का बोध हो जायेगा । 'गंगा-तट' यह लक्ष्यार्थ लेने पर शक्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं हो रहा है, क्योंकि शक्यार्थ का गंगा वाला अंश लक्ष्यार्थ में विद्यमान रहता है । इसलिए इसका उदाहरण

'विषं भुङ्क्ष्व' दिया जाता है, जो अपने शक्यार्थ को सर्वथा छोड़कर 'उस शत्रु के घर मत खाना' इस अर्थ का बोध कराता है।

(२) 'वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनिवृत्तिः अजहल्लक्षणा'—अर्थात् जहाँ शक्यार्थ को अन्तर्भूत करके अन्य अर्थ (लक्ष्यार्थ) लिया जाता है वहाँ अजहल्लक्षणा होती है। इसको उपादानलक्षणा भी कहते हैं। उदाहरण—'शोणो धावति'—लाल दौड़ता है—इस वाक्य में 'शोण' शब्द का वाच्यार्थ (लाल) बाधित हो जाता है, क्योंकि लाल गुण का दौड़ना असंभव है। अतः शोण शब्द की शोण गुण विशिष्ट अश्वादि में लक्षणा कर ली जाती है, जिसमें वाच्यार्थ अन्तर्भुक्त है।

(३) 'वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिः जहदजहल्लक्षणा'—अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ के एक अंश को छोड़कर दूसरे अंश का बोध कराया जाता है वहाँ जहदजहल्लक्षणा होती है। इसको भागलक्षणा भी कहते हैं। उदाहरण—'सोऽयं देवदत्तः'—इस वाक्य में 'सः' पद का 'तत्कालविशिष्ट' यह अंश और 'अयम्' पद का 'एतत्कालविशिष्ट' यह अंश त्याग करके देवदत्तरूप अविरुद्ध अंश का बोध कराया जाता है, अतः जहद-जहल्लक्षणा है।

अस्मिन् वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न संगच्छते। तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादिभेदव्यावर्तकतयाऽन्योन्यविशेषणविशेष्यभाव-संसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्तरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वांगी-कारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः संगच्छते। अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्ट-चैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्ग-स्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वांगीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न संगच्छते। तदुक्तम्—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः॥

वि० म०—ननु तत्त्वम्पदयोः सामानाधिकरण्यं विनापि लक्षणयैकार्थ्यमुपपत्स्यते नीलमुत्पलमितिवदित्याशङ्क्याह अस्मिन् इति। अखण्डार्थत्वस्य विवक्षितत्वादित्यभि-सन्धिः।

ननु नीलोत्पलवाक्येऽपि स्यादखण्डार्थता नेत्याह तत्रेति। शौक्ल्यादिव्यावर्तकनील-गुणस्य पटादिव्यावर्तकोत्पलद्रव्यस्य च गुणगुणिभावेन विरोधाभावात्तत्संसर्गैक्यस्य वा तदन्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य वा वाक्यार्थत्वान्नाखण्डार्थत्वं मुख्यैक्यस्य तत्राविवक्षितत्वा-दित्यर्थः।

प्रकृतवाक्ये नीलोत्पलवाक्याद्वैषम्यमाह अत्र तु इति। यद्यपि तत्त्वम्पदार्थयोः स्वरूपतो न प्रत्यक्षत्वं तत्पदार्थस्याद्वितीयत्वात्त्वम्पदार्थस्य च द्रष्टृत्वाद्दृष्टृदृश्यत्वानुपपत्तेस्तथा च तद्भेदस्याप्यप्रत्यक्षता तथापि तत्त्वम्पदयोः परोक्षापरोक्षार्थाधिगतसंगत्योः श्रवणसमयेऽपरिशोधितपदार्थस्य पुंसो भवति विरोधस्फूर्तिरिति तदपेक्षया प्रत्यक्षादि-प्रमाणविरोधादित्युक्तम्। तथा च तत्त्वम्पदयोः शबलांशे व्युत्पन्नयोर्विरुद्धार्थविषयकत्वेनैक्यनिष्ठत्वाभावान्न विवक्षितं सामानाधिकरण्यमुपपद्यत इति भावः। एतदुक्तं भवति। न तावत्तत्त्वमर्थयोर्नीलोत्पलवद्गुणगुणिभाव उभयोरपि द्रव्यत्वात्। नापि कुण्डलसुवर्ण-वत्कार्यकारणभावो नित्यत्वादविकृतत्वाच्च। नापि भूम्यम्बरादिवदंशांशिभावो निरवयव-त्वात्। नापि क्रिया तद्वद्भावो बाणादिवन्निष्क्रियत्वात्। नापि गोत्वशाबलेयादिवज्जाति-व्यक्तिभावो द्रव्यत्वादेव। अतएव न विशेषविशेषिभावोऽपि। वस्तुतस्तु विज्ञानघनमात्र-त्वावधारणान्नेति नेतीत्यशेषविशेषप्रत्याख्यानेन निर्धर्मकत्वावधारणाच्च न केनापि प्रकारेण तत्त्वमस्यादिवाक्यानां संसृष्टार्थनिष्ठत्वशङ्कावकाशं लभते। न चेदं वाक्यं त्वमिन्द्रोऽसीतिवत्स्तुतिपरं नवकृत्वोऽभ्यासवैयर्थ्यप्रसंगात्। न हि स्तुतिः पुनः पुनः परि-चोदनापूर्वकं क्वचिदभ्यस्यते। अतएव नार्थवादोऽनन्यशेषत्वाच्च। न ह्यस्मिन् प्रकरणेऽन्यत्किञ्चित्प्रधानवाक्यमुपलभ्यते यच्छेषत्वेनेदमर्थवादरूपं भवेत्। नापि राजपुरुषे राजायमितिवदौपचारिकमप्रमितभेदयोरैक्यस्यौपचारिकत्वानुपपत्तेः। नापि विपर्ययः संशयो वात्र सम्भवति श्रुतेः स्वतः प्रामाण्यात्। तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठम-कार्यकारणद्रव्यमात्रनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणवाक्यत्वात्सोऽयं देवदत्त इति वाक्य-वदिति। तदेवं पदयोरखण्डार्थनिष्ठत्वेन सामानाधिकरण्यं वाच्यार्थांशे विरोधाद्विना लक्षणा न संगच्छत इत्युक्तम्।

अनुवाद—इस (तत्त्वमसि) वाक्य में 'नीलम् उत्पलम् (नीला कमल)' इस वाक्य की तरह वाक्य का अर्थ (विशेषण-विशेष्यभाव) संगत नहीं होता है। क्योंकि वहाँ नील पद का अर्थ है नीला गुण और उत्पल पद का अर्थ है उत्पल द्रव्य। इन दोनों का शुक्लत्व आदि (गुणों) एवं वस्त्र आदि (द्रव्यों) का व्यावर्तक (अलग करने वाला) होने के कारण परस्पर विशेषण-विशेष्य भावरूप संसर्ग मान लेने पर या जो 'नीलगुण विशिष्ट है वही उत्पल है' इस प्रकार इन दोनों का विशिष्ट वाक्यार्थ मान लेने पर या दोनों की एकता स्वीकार कर लेने पर दूसरे (प्रत्यक्ष आदि) प्रमाणों से विरोध न होने के कारण वाक्यार्थ संगत हो जाता है। किन्तु यहाँ (तत्त्वमसि में) 'तत्' पद का अर्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है और 'त्वम्' पद का अर्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है। ये दोनों अर्थ एक दूसरे के भेद के व्यावर्तक हैं, इसलिए इन दोनों में विशेषणविशेष्य-भावरूप संसर्ग मानने में या इन दोनों को एक दूसरे से विशिष्ट मानने में या दोनों की एकता मानने में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विरोध होने से वाक्यार्थ संगत नहीं होता है। (कहने का तात्पर्य यह है कि 'नीलमुत्पलम्' में एक गुण है और दूसरा द्रव्य, इसलिए विशेषणविशेष्यभावरूप संसर्ग आदि संभव हैं, किन्तु 'तत्त्वमसि' में 'तत्' और 'त्वम्' दोनों द्रव्य हैं, अतः दो द्रव्यों में विशेषणविशेष्य संसर्ग असंभव है। और विशिष्टार्थ

की कल्पना भी नहीं की जा सकती, कारण जो परोक्षत्वादिविशिष्ट है वही अपरोक्ष-त्वादिविशिष्ट होगा, इसमें प्रत्यक्ष विरोध है।) इसलिए (पञ्चदशी ७।७५ में) कहा है—

यहाँ ('तत्त्वमसि' महावाक्य में) भेदरूप संसर्ग (सम्बन्ध) अथवा विशिष्ट (अभेद रूप) संसर्ग वाक्यार्थ (अर्थात् वाच्यार्थ) इष्ट नहीं है। अपितु, अखण्ड एकरस (भेदशून्य आनन्दस्वरूप वस्तुमात्र) के रूप में वाक्यार्थ विद्वानों को अभीष्ट है।

टिप्पणी—संसर्गः—स्वस्वरूपवाचकैः अभिहितानां पदार्थानाम् अन्योऽन्याकाङ्क्षा-रणायोग्यत्वेन यः तात्पर्यविषयः स संसर्गः—अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त पदों के जो अर्थ , उनका पारस्परिक सम्बन्ध संसर्ग है। यह संसर्ग भेदरूप और अभेदरूप दोनों प्रकार का होता है। 'दण्डेन गां नयति' वाक्य में भेदरूप संसर्ग है और 'नीलमुत्पलम्' में अभेद-संसर्ग है।

२३. जहल्लक्षणानिराकरणम्

अत्र 'गंगायां घोषः प्रतिवसति' इति वाक्यवज्जहल्लक्षणापि न संगच्छते। तत्र तु गंगाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वाद् वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धि तीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा संगच्छते। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न संगच्छते।

न च गंगापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न संगच्छत इति वाच्यम्। तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वम्पदयो श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात्।

वि० म०—तत्र भागलक्षणामेव परिशेषयितुं लक्षणान्तरं व्युदस्यति अत्र इत्यादिना। घोष आभीरनिवासः कुत इत्यपेक्षायां गङ्गापदे जहल्लक्षणा सम्भवति वाच्यार्थस्य अशेषस्यानन्वयेन परित्याज्यत्वादित्याह तत्र गङ्गाघोषयोः इति। प्रकृते वाच्यार्थस्य सर्वपरित्यागायोगान्न जहल्लक्षणा संगच्छत इत्याह अत्र त्विति।

ननुविशेषणांशत्यागेऽपि विशेषणाभावे विशिष्टाभावन्यायेन विशिष्टस्वार्थपरित्यागाज्जहल्लक्षणैव तत्त्वम्पदयोरपि गङ्गापदवत् स्यादित्याशङ्क्य वैधर्म्येण प्रत्याचष्टे

न चेति । यथा पदादेव वाक्यार्थान्वयिपदार्थप्रतीतौ लक्षणावैयर्थ्यं तथा विशेष्यांशपरित्यागेऽपि लक्षणावैयर्थ्यं तत्त्वम्पदार्थातिरिक्तस्य तत्सम्बन्धिनो वाक्यार्थान्वयिनोऽर्थस्याप्रसिद्धेरिति भावः ।

अनुवाद—यहाँ ('तत्त्वमसि' वाक्य में) 'गंगायां घोषः प्रतिवसति' (गंगा में अहीरों की बस्ती बसी है)। इस वाक्य के समान जहल्लक्षणा संगत नहीं होगी। (क्योंकि) वहाँ गंगा (प्रवाह) और घोष (बस्ती) का आधार-आधेय भावमूलक वाक्यार्थ है (अर्थात् गंगा का प्रवाह बस्ती का आधार है—ऐसा वाच्यार्थ वहाँ निकलता है), जो पूर्णतया विरुद्ध (बाधित) होने के कारण (क्योंकि जल के प्रवाह में बस्ती नहीं हो सकती अतः) परित्यक्त हो जाता है और उससे सम्बन्धित तीर अर्थ में लक्षणा की जाती है। अतः वहाँ जहल्लक्षणा संगत (उचित) है। किन्तु यहाँ ('तत्त्वमसि' वाक्य में) परोक्षत्व विशिष्ट चैतन्य तथा अपरोक्षत्व विशिष्ट चैतन्य के एकत्व के बोधक वाक्यार्थ के एक ही भाग (परोक्षत्व-अपरोक्षत्व) में विरोध है, दूसरे (चैतन्य वाले) भाग में कोई विरोध नहीं है। अतः वाच्यार्थ का पूर्ण परित्याग न होने से जहल्लक्षणा असंगत है।

यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार गंगा पद अपने अर्थ का परित्याग करके तीर पद के अर्थ को लक्षित करता है उसी प्रकार 'तत्' पद अपने (परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य रूप) अर्थ को छोड़कर 'त्वम्' पद के अर्थ (जीव चैतन्य) का लक्षणा द्वारा बोध कराये अथवा 'त्वम्' पद अपने (अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य रूप) अर्थ को छोड़कर तत् पद के अर्थ (ईश्वर चैतन्य) को लक्षणा द्वारा बोधित करे, तो क्यों जहल्लक्षणा संगत नहीं हो सकती ? (इसका उत्तर है कि लक्षणा अश्रुत पद के अर्थ में ही होती है अर्थात् वाक्य में पहले से कोई पद उपस्थित है तो उस पद के अर्थ में किसी अन्य पद की लक्षणा नहीं हो सकती)। वहाँ ('गंगायां घोषः' वाक्य में) तीर शब्द श्रुत (पूर्वोपस्थित) नहीं है, अतः उसके अर्थ की प्रतीति न होने पर लक्षणा द्वारा उसकी प्रतीति की अपेक्षा होती है। किन्तु यहाँ ('तत्त्वमसि' वाक्य में) 'तत्' और 'त्वम्' दोनों पद श्रुत हैं वे दोनों अपने-अपने वाच्यार्थ की प्रतीति करा रहे हैं, अतः एक पद से दूसरे पद के वाच्यार्थ की लक्षणा द्वारा प्रतीति कराने की आवश्यकता नहीं है।

२४. अजहल्लक्षणानिराकरणम्

अत्र 'शोणो धावति' इति वाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति। तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात् तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात् तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव।

न च तत्वदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तर-
हितं त्वंपदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणांगी-
रणमिति वाच्यम् । एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभय-
क्षणाया असम्भवात् पदान्तरेण तदर्थं प्रतीतौ लक्षणया पुनस्त-
प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च ।

वि० म० अजहत्स्वार्थामप्यत्र व्युदस्यति अत्र शोण इति । शोणपदे स्ववाच्य-
गगुणापरित्यागेन तदाधारलक्षणावत्तत्पदे त्वम्पदे च स्ववाच्यापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो
य कस्यचिदनिर्दिष्टविशेषस्यार्थान्तरस्य प्रतीत्यै लक्षणाङ्गीकरणेऽपि वाच्यार्थयोर्विरोध-
परिहारान्नाजहल्लक्षणाप्यत्र युज्यत इत्यर्थः । प्रकारान्तरेणाजहल्लक्षणामुट्टङ्क्य निरा-
टे न चेति । सकृच्छ्रुतस्यैकस्य पदस्य युगपदुभयलक्षकत्वासम्भवादित्यर्थः । अत्रापि
क्ति दूषणं प्रसञ्जयति पदान्तरेण इति ।

अनुवाद—यहाँ (तत्त्वमसि' वाक्य में) 'शोणो धावति (लाल रंग दौड़ रहा है)'
वाक्य के समान अजहल्लक्षणा भी संभव नहीं है । (क्योंकि) वहाँ लाल गुण के गमन
युक्त वाक्यार्थ विरुद्ध है (क्योंकि लाल गुण का दौड़ना असंभव है), अतः उसके त्याग
उसके आश्रयभूत अश्व आदि की लक्षणा करने से विरोध का निराकरण हो जाता
इसलिए अजहल्लक्षणा संभव है (अर्थात् शोण गुण के वाच्यार्थ 'लाल रंग' का त्याग
करते हुए लाल रंग से युक्त अश्व में की जाने वाली लक्षणा संभव है) । किन्तु यहाँ
त्त्वमसि' वाक्य में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व आदि से युक्त चैतन्य की एकतारूप
च्यार्थ के विरुद्ध होने के कारण बिना उसका परित्याग किये उससे सम्बन्धित जिस-
सी अर्थ की लक्षणा से उपलब्धि हो जाने पर भी उनके (परस्पर) विरोध का निरा-
ण असंभव होने से अजहल्लक्षणा हो ही नहीं सकती (अर्थात् यहाँ परोक्षत्वादि से
चैतन्य अपरोक्षत्वादि से युक्त चैतन्य नहीं बन सकता, अतः वाच्यार्थ में विरोध है ।
इस विरुद्ध वाच्यार्थ का परित्याग किये बिना उससे सम्बन्धित अन्य किसी अर्थ में
क्षणा करें तो इस विरोध की निवृत्ति नहीं हो सकती । अतः यहाँ अजहल्लक्षणा
व नहीं है) ।

यदि कहें कि 'तत' पद अथवा 'त्वम्' पद अपने अर्थ के विरुद्धांश को छोड़कर
अंश सहित 'त्वम्' के अर्थ को अथवा 'तत्' पद के अर्थ को लक्षणा से प्रकट करे
र्थात् तत्' पद 'त्वम्' पद से विरुद्ध अपने परोक्षत्वादि धर्म को छोड़कर अविरुद्ध अर्थात्
सामान्य चैतन्यांश को न छोड़ता हुआ 'त्वम्' पद के अर्थ अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट
चैतन्य को लक्षणा के द्वारा बोधित करे और इसी प्रकार 'त्वम्' पद 'तत्' पद से
द्ध अपने अपरोक्षत्वादि धर्म को छोड़कर अविरुद्ध अर्थात् उभयसामान्य चैतन्यांश को
छोड़ता हुआ 'तत्' पद के अर्थ—सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वर चैतन्य—को लक्षणा
बोधित करे), इसलिए यहाँ प्रकारान्तर से भागलक्षणा स्वीकार करने की आव-
ता नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं है । कारण एक पद के द्वारा अपने अर्थ को

छोड़कर दसरे पद के अभिन्नार्थ की प्रतीति में लक्षणा संभव नहीं हो सकती और दूसरे शब्द के द्वारा उस अर्थ की प्रतीति हो जाने पर लक्षणा द्वारा उसे पुनः प्रतीति कराने की अपेक्षा नहीं रह जाती (अर्थात् लक्षणा में यह संभव नहीं है कि कोई पद अपने वाच्यार्थ के एक अंश का त्याग और दूसरे अंश का ग्रहण करके उसी वाक्य में विद्यमान अन्य पद के वाच्यार्थ को लक्षित कराये जैसे 'शोणो धावति' में 'शोण' शब्द अपने लाल अर्थ को बताये और लक्षणया काले या नीले आदि दूसरे गुणों को भी द्योतित करे, ऐसा कभी नहीं हो सकता। और जब वाक्य में विद्यमान अन्य पद से ही उस अर्थ की प्रतीति हो रही है तब उस अर्थ में लक्षणा की आवश्यकता ही क्या है ?)

२५. भागलक्षणा-स्थापना

तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा 'तत्त्वमसी' ति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति।

वि० म०—परिशेषाद्भागलक्षणामन्तरेण नाखण्डवाक्यार्थसिद्धिरतस्तयैव लक्षणयैकार्थपर्यवसायित्वेन पदयोः सामानाधिकरण्यमित्युपसंहरति **तस्मात्** इति। सोऽयमिति पदद्वयं वाक्यशब्दार्थो देवदत्तपदस्य सामानाधिकरण्यसिद्धैक्यस्पष्टीकरणार्थत्वाल्लक्षणाविचारानुपयोगात्। यद्यपि पदधर्मो लक्षणा तथाप्यभिहितान्वयमतवत् पदार्थस्यापि लक्षकत्वमभ्युपगम्य पदार्थो वेत्युक्तम्। अन्यत्समानम्।

अत्र केचिदाहुः पदद्वये लक्षणानुपपन्ना। सोऽयं देवदत्त इत्युक्ते सशब्देनातीतदेशकालपरित्यागेन लक्षिते देवदत्तस्वरूपे वर्तमानदेशकालवैशिष्ट्यमयम्पदेन प्रतिपाद्यते। तथा च पूर्वोत्तरदेवदत्तस्वरूपाभेदसिद्धेरिति। तदयुक्तं विशिष्टस्य केवलाद्भिन्नत्वात्। यथा केवलो विशिष्टाद्भिन्नस्तथा विशिष्टोऽपि केवलाद्भिन्न एव। तथा च विशिष्टविषयस्यायंशब्दस्यापि विना लक्षणां न तत्स्वरूपनिष्ठत्वं सम्भवति। तदभावे च सोऽयम्पदयोः सामानाधिकरण्येन देवदत्तैक्यप्रतिपादकतेत्यास्तां तावत्। अपरे पुनराहुर्न पदवाच्यार्थयोः परस्परविरोधाल्लक्षणाश्रीयते, किन्तु वाच्यार्थैक्ये तात्पर्याभावादिति। तन्न तात्पर्याभावावगमस्यापि विरोधस्फूर्त्यधीनत्वात्। अन्यथा वेदवाक्यप्रतिपादितेऽर्थे मंत्रादिविसंवादिप्रमाणान्तराविषये तात्पर्यानवगमायोगात्। तस्मात्सुष्ठूक्तं वाक्यार्थस्यांशे विरोधादिति।

अनुवाद—इसलिए जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' (यह वही देवदत्त है) यह वाक्य या

इस (वाक्य) का अर्थ तत्काल और एतत्काल विशिष्ट देवदत्त बोधक वाक्यार्थ के अंश मे (अर्थात् तत्कालविशिष्ट देवदत्त ही एतत्कालविशिष्ट देवदत्त है । इस वाक्यार्थ के तत्काल-विशिष्टत्व और एतत्कालविशिष्टत्व अंश में) विरोध होने के कारण विरुद्ध अंश (तत्कालविशिष्टत्व) तथा एतत्कालविशिष्टत्व) का परित्याग करके अविरुद्ध अंश देवदत्त मात्र को लक्षित करता है (अतएव इसमें जहदजहल्लक्षणा है), उसी तरह 'तत्त्वमसि' यह वाक्य या इसका अर्थ परोक्षत्व आदि एवं अपरोक्षत्व आदि विशिष्ट चैतन्य के एकत्व बोधक वाक्यार्थ के अंश में (अर्थात् परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा अपरोक्षत्वादविशिष्ट चैतन्य दोनों एक हैं--इस वाक्यार्थ के परोक्षत्वादिविशिष्ट तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्ट अंश में) विरोध होने के कारण विरुद्ध अंश--परोक्षत्वादिविशिष्टत्व एवं अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व को त्यागकर अविरुद्ध अंश—अखण्डचैतन्य मात्र को लक्षित करता है (अतएव इसमें जहदजहल्लक्षणा या भागलक्षणा है) ।

टिप्पणी--पञ्चदशीकार ने 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का अर्थ इस प्रकार किया है--

'एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम् ।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥
श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वम्पदेरितम् ।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥

२६. अनुभववाक्यार्थः

अथाधुनाहं ब्रह्मास्मीत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते । एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरस्सरं तत्त्वम्पदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति ।

वि० म०--तदेवम् 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' (ब्रह्म सूत्र ४।१।३) इति न्यायेन जीवस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यज्ञानानन्तानन्दपरिपूर्णब्रह्मात्मत्वोपदेशवाक्यार्थं सप्रपञ्चं निरूप्येदानीमवगतस्वरूपस्यानुभावावभासिवाक्यार्थं वर्णयितुमुपक्रमते अथ इत्यादिना । उपदेशवाक्यार्थनिरूपणानन्तर्यमथशब्दार्थः ।

अधिकारिणो विधिवदधीतवेदेत्यादिखण्डलोकलक्षणस्यासम्भावना विपरीतभावनाख्यचित्तदोषरहितस्याध्यारोपादिन्यायेनाचार्योपदेशसमनन्तरमेव नित्यशुद्धबुद्धत्वादिविशेषणं ब्रह्माहमस्मीत्यखण्डाकारान्तः करणवृत्तिरुदेति साक्षात्काररूपा न पुनः परोक्षार्थाकारितेत्यर्थः । न च शब्दस्य परोक्षज्ञानजनकत्वस्वाभाव्यान्न तेनापरोक्षा चित्तवृत्तिरुदेतीति वाच्यं 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तर' (उपदेशसाहस्री १८) इति श्रुतेर्नित्यापरोक्षं ब्रह्मात्मस्वरूपं तस्मिन् परोक्षज्ञानं जनयतः शब्दस्याप्रामाण्यापत्तेः । किञ्च ज्ञानस्य परोक्षत्वापरोक्षत्वे तत्करण निबन्धने किंत्वर्थनिबन्धने एकस्यैव मनसः

सुखादिविषयकापरोक्षज्ञानहेतुत्वस्यातीतार्थस्मृतिहेतुत्वस्य च दर्शनात् । तत्र सहकारिभेदात्तथाभाव इति चेत्तर्हीहाप्यस्ति सहकारिभेदः शब्दप्रतिपत्तुः शब्दार्थनैकट्यानैकट्यलक्षणः । निकटं ह्यत्यन्तमात्मनः स्वरूपं ब्रह्म न त्वस्वरूपमुपाध्यन्तराविष्टमिन्द्रवरुणादिरूपम् । तस्माद्दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यवत्तत्त्वमस्यादिवाक्यानामपरोक्षज्ञानजनकत्वं युक्तमिति भावः ।

अनुवाद—अब 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अनुभव-वाक्य का अर्थ बताया जा रहा है । इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से) जब आचार्य (गुरु) अध्यारोप और अपवाद के द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ को शोधकर (अर्थात् अच्छी तरह समझाकर) 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के द्वारा अखण्ड अर्थ का ज्ञान करा देता है तब अधिकारी (शिष्य) को 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव, परमानन्द, अनन्त एवं अद्वैत ब्रह्म हूँ—ऐसी अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है ।

टिप्पणी (१) अर्थ-इसके बाद । यह अनेकार्थक अव्यय शब्द है । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः । (२) अनुभववाक्य-महावाक्य के दो भेद माने गये हैं—एक उपदेशवाक्य और दूसरा अनुभववाक्य । 'तत्त्वमसि' यह उपदेशवाक्य है और 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुभव वाक्य है । अनुभव का तात्पर्य है ब्रह्मसाक्षात्कार से । उपदेश वाक्य से गुरु शिष्य को ब्रह्म का उपदेश देता है और अनुभववाक्य से शिष्य ब्रह्म को अनुभव करता है ।

सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते । तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति । तत्र प्रतिबिम्बितचैतन्यमपि यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति तथा स्वयम्प्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत्स्वोपाधिभूताखण्डचित्तवृत्तेर्बाधितत्वाद् दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत् प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति ।

अनुवाद—यह (चित्तवृत्ति) चैतन्य (के प्रतिबिम्ब) से प्रतिबिम्बित होती हुई प्रत्यक्, अभिन्न एवम् अज्ञात परब्रह्म को विषय बनाकर तद्गत अज्ञान को ही बाधित करती है । तब जिस प्रकार वस्त्र के कारणभूत धागों को जला देने पर वस्त्र जल जाता है उसी प्रकार समस्त संसार के कारणभूत अज्ञान के बाधित (नष्ट) हो जाने पर उसके कार्यभूतसमस्त (सृष्टि-प्रपञ्च) का भी नाश हो जाता है और ऐसा होने पर उसके अन्तर्भूत अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति भी नष्ट हो जाती है ।

(शंका होती है कि चित्तवृत्ति भले नष्ट हो जाय, किन्तु उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य तो बना ही रहेगा, क्योंकि वह अज्ञान का कार्य नहीं है। फिर अद्वैत की अनुभूति कैसे होगी ? इसका समाधान देते हैं—) उस (चित्तवृत्ति) में प्रतिबिम्बित चैतन्य जैसे दीपक का प्रकाश सूर्य के आलोक को अवभासित करने में असमर्थ होकर उससे अभिभूत होता है उसी तरह स्वयं प्रकाशमान, प्रत्यक्, अभिन्न परब्रह्म को प्रकाशित करने में असमर्थ होने के कारण उससे अभिभूत होकर अपनी उपाधिभूत अखण्ड चित्तवृत्ति के बाधित हो जाने पर, दर्पण के न रहने पर मुख की छाया के मुखमात्र में रह जाने के समान आन्तरिक आत्मा से अभिन्न परब्रह्ममात्र होता है।

टिप्पणी—सा तु—यहाँ प्रश्न होता है कि चित्तवृत्ति तो जड़ है, अतः जिस प्रकार दीपक का प्रकाश सूर्यमण्डल में नहीं व्याप्त हो सकता उसी प्रकार जड़ चित्तवृत्ति भी स्वयंप्रकाश एवं नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा को अपना विषय बनाकर उदित नहीं हो सकती। इसका उत्तर है कि चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाती; बल्कि वह अज्ञानविशिष्ट आन्तरिक आत्मा को विषय बनाती है। उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। तब वह प्रत्यक् चैतन्यगत अज्ञानावरण को दूर कर देती है। यही अज्ञानावरण हटाना उसके उदित होने का प्रयोजन है। जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तब उस अज्ञान के कार्यभूत चराचर जगत् का उसी प्रकार नाश हो जाता है जैसे तन्तु रूप कारण के जल जाने पर पटरूप कार्य का भी नाश हो जाता है। फिर जब चराचर प्रपञ्च का नाश हो जाता है तब अधिकारी के लिए विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं बचता। इस प्रकार अधिकारी को अद्वैत की अनुभूति होती है। इस पर शंका होती है कि अज्ञान का नाश भले हो जाय किन्तु चित्तवृत्ति के बने रहने पर अद्वैत की अनुभूति कैसे होगी ? इसका समाधान है कि चित्तवृत्ति भी अज्ञान का कार्य है, क्योंकि वह अन्तःकरण में उत्पन्न होती है, जो अज्ञान का ही कार्य है। अतः अज्ञान के नष्ट होने पर चित्तवृत्ति भी नहीं रहती।

२७. ब्रह्मणो वृत्तिव्याप्यत्वं फलाव्याप्यत्वं च

एवञ्च सति 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' 'यन्मनसा न मनुते' इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वांगीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात्। तदुक्तम्—

'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्। इति।

'ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
स्वयम्प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते।।' इति च।

वि० म०—वाक्यजनिता ब्रह्मात्माकारा चित्तवृत्तिस्तदगताज्ञानमेव बाधते न तु तत्प्रकाशयतीति विशेषनिरूपणे फलितमाह एवं च इति। अविरोधः सिद्ध इति शेषः।

तत्रैवं शब्दसूचितमर्थं हेतुमाह **वृत्तिव्याप्तत्वमिति**। विशिष्टशब्दादिप्रमाणबलात्तत्तद्विषयाकारधीसमुन्मेषाभिव्यक्तत्वं वृत्तिव्याप्यत्वम्। बाह्येन्द्रियसन्निकृष्टार्थाकारबाह्यधीपरिणामावच्छिन्नचिदंशकृतप्राकट्याश्रयत्वं फलव्याप्यत्वमिति भेदः। उक्तेऽर्थे वृद्धसम्मतिमाह फलव्याप्यत्वमिति।

अनुवाद--ऐसा होने पर (अर्थात चैतन्यप्रतिबिम्बसहित अखण्डाकाराकारितचित्तवृत्ति के द्वारा प्रत्यक् चैतन्यगत अज्ञान के नष्ट होकर प्रत्यगभिन्न परब्रह्ममात्र के शेष रह जाने पर) 'मनसैवानुद्रष्टव्यम् (बृह० ४।४।१९) (यह ब्रह्म मन से देखा जा सकता है)' तथा 'यन्मनसा न मनुते (केन० १।५) (जो ब्रह्म मन से नहीं जाना जा सकता है)' इन दोनों श्रुतियों में विरोध नहीं होता है, क्योंकि (श्रुति में) ब्रह्म के चित्तवृत्तिद्वारा व्याप्त होने को ही स्वीकार किया गया है, अपितु फल (चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य) के द्वारा उसके व्याप्त होने का निषेध किया गया (अर्थात चित्तवृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा अज्ञानावाच्छिन्न चैतन्य के अज्ञानावरणनिवृत्तिपूर्वक स्वरूपज्ञान के तात्पर्य से कही हुई 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि श्रुतियों में कोई विरोध नहीं है।)। जैसा कि पञ्चदशी (६।९०,९२ में) कहा गया है--

'इस (ब्रह्म) के फल (चैतन्य) के द्वारा व्याप्त होने का ही शास्त्रकारों ने विरोध किया है। ब्रह्म के विषय में (उसके रूप को आच्छादित करने वाले) अज्ञान के नाश के लिए वृत्ति की व्याप्ति (अर्थात चित्तवृत्ति द्वारा ब्रह्म की ओर अभिमुख होना) अपेक्षित है। ब्रह्म के स्वयं दीप्यमान होने के कारण आभास की कोई उपयोगिता नहीं है (अर्थात उसको प्रकाशित करने के लिए चिदाभास आवश्यक नहीं है)।

टिप्पणी--(१) **फलव्याप्यत्वम्**--अन्तःकरण के विषय रूप में परिवर्तित हो जाने पर उसमें प्रतिबिम्बित चिदाभास (चैतन्य) या उससे आच्छन्न चैतन्य के द्वारा उस विषय का साक्षात्कार फलव्याप्ति है।

(२) **वृत्तिव्याप्यत्वम्**--अन्तःकरण के चक्षु आदि द्वारा घटादि विषय देश में जाकर तत्तदाकार में परिवर्तित होने को वृत्ति कहते हैं। जैसे सामने घट रखा है। हमारी दृष्टि घट पर जैसे ही पड़ेगी, हमारा अन्तःकरण नेत्र के द्वार के बाहर निकल कर घट तक पहुँचकर घट के आकार में परिणत (घटाकाराकारित) हो जाएगा। इसी को वृत्ति या चित्तवृत्ति कहते हैं। उस वृत्ति के उन्मेष द्वारा अभिव्यक्त होना वृत्तिव्याप्यत्व है।

जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति। तथाहि-अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जडघटमपि भासयति। तदुक्तम्--

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ।। इति ।

यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति ।

वि० म०—ननु ब्रह्मफलव्याप्यं साभासान्तःकरणव्यङ्ग्यत्वात्प्रत्यक्षत्वाद्वा घटादिवद् यद्वा ब्रह्माकारावृत्तिः सकर्मिकापरोक्षवृतित्वाद् घटादिवृत्तिवदित्याशङ्क्य पूर्वस्मिन्ननुमाने जडत्वमुपाधिरुत्तरस्मिंस्तु जडविषयत्वमुपाधिरित्यभिप्रेत्याह जडपदार्थेति । प्रतिज्ञातमर्थं सदृष्टान्तमुपपादयति तथा हीत्यादिना । इति शब्दोऽनुभववाक्यार्थनिरूपणसमाप्त्यर्थः ।

अनुवाद--किन्तु जड़ (घट आदि) के आकार से आकारित वृत्ति इस (ब्रह्मविषयक चित्तवृत्ति) से भिन्न होती है । उदाहरणार्थ, 'यह घड़ा है' ऐसी घटाकाराकारित चित्तवृत्ति अज्ञात घड़े को विषय बनाकर घटसम्बन्धी अज्ञान को विनष्ट करती है तथा अपने में विद्यमान चिदाभास के द्वारा जड़ घड़े को भी प्रकाशित करती है । जैसा कि (पञ्चदशी ७।९१) में कहा गया—'बुद्धि तथा उसमें विद्यमान चिदाभास–ये दोनों घड़े को व्याप्त करते हैं । उनमें से धी (बुद्धि अर्थात् चित्तवृत्ति) के द्वारा (घटविषयक) अज्ञाननष्ट होता है और चिदाभास के द्वारा घट प्रकाशित होता है' । जिस प्रकार दीपक का प्रकाश-मंडल अंधकार में स्थित घट, वस्त्र आदि को विषय बनाकर तद्गत अर्थात् उनको आच्छादित करने वाले) अंधकार को दूर करता है तथा अपनी ज्योति से उस (घट आदि पदार्थ) को प्रकाशित भी करता है (उसी प्रकार घटाद्याकाराकारित चित्तवृत्ति घटादिविषयक अज्ञान को नष्ट करती है तथा अपने भीतर विद्यमान चिदाभास के द्वारा घट आदि को प्रकाशित भी करती है । किन्तु ब्रह्म के साक्षात्कार में ऐसी बात नहीं है । जैसे दीपक की ज्योति अंधकार में रखे हुए पदार्थ को प्रकाशित कर सकती है, पर स्वयं प्रकाशमान सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकती, सूर्य के सामने वह निष्प्रभ हो जाती है, उसी प्रकार चित्तवृत्ति ब्रह्मविषयक अज्ञान का नाश कर सकती है, पर उसमें रहने वाला चिदाभासब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकता, क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान है । उसी का प्रतिबिम्ब चिदाभास उसको कैसे प्रकाशित कर सकता है !) ।

२८. ब्रह्मज्ञानसाधनानि

एवम्भूतस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमनननिदिध्याससमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते । श्रवणं नाम षड्विधलिंगैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम् । लिंगानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि ।

वि० म०—इदानीम् 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र ४।१।१) इति न्यायमाश्रित्यैवंविधसाक्षात्काररूपानुभवदार्ढ्यपर्यन्तमनुष्ठेयं श्रवणादिसाधनजातं निरूपयितुमारभते एवम् इत्यादिना । तथा च श्रुतिः 'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथमुनिः' (बृह० ३।५।१) इति पाण्डित्यबाल्यमुनिशब्दैः क्रमेण श्रवणमनननिदिध्यासनानि विधत्ते । तथा—

तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' ॥
(श्वेता० १।१०)

इति श्वेताश्वतरीयो मन्त्रः समाधिमनुष्ठेयं सूचयति । 'सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्' इति न्यायेनायमर्थो निर्णीतः ।

श्रवणादीनां लक्षणमाह श्रवणं नाम इत्यादिना । 'गतिसामान्यात्' (ब्रह्मसूत्र १।१।१०) इति न्यायमाश्रित्य अशेषवेदान्तानामित्युक्तम् । 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि' (ब्रह्मसूत्र ३।२।११) इति न्यायमाश्रित्य अद्वितीयवस्तुनीत्युक्तम् । लिंगानि कानीत्यपेक्षायां तानि विभजते लिंगानि तु इति ।

अनुवाद—इस प्रकार अपने स्वरूपभूत चैतन्य के साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि का अनुष्ठान अपेक्षित होने के कारण उन (श्रवण आदि) को भी दिखाया जा रहा है। छह प्रकार के लिंगों द्वारा समस्त वेदान्त-वाक्यों का अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में तात्पर्य निर्धारण करना श्रवण कहलाता है। (छह प्रकार के लिंग) जो—उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति नामक हैं।

टिप्पणी (१) तात्पर्यावधारणम्—(समस्त वेदान्त-वाक्यों के) अभिप्राय का निश्चय विचारपूर्वक करना (केवल आँख मूँदकर मान लेना ही नहीं)। (२) लिङ्गानि—लीनमर्थं गमयन्तीति लिंगानि—जो छिपे हुए अर्थ को प्रकट करें। यहाँ छिपा हुआ अर्थ है जीव और ब्रह्म का ऐक्य। उसको प्रकट करने के कारण उपक्रम आदि को लिंग कहते हैं। बृहत्संहिता में लिंग का लक्षण इसी प्रकार किया गया है—'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये' ॥

तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ । यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्यायेप्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम् प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनः पुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः । यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम् । प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता यथा । तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम् । फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनु-

ष्ठानस्य वा तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम् । यथा तत्र 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते । प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः । यथा तत्रैव 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातम्' इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम् । प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः । यथा तत्र 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते ।

वि० म०—उपक्रमोपसंहाराख्यमाद्यं लिङ्गं लक्षयित्वा उदाहरति यथा छान्दोग्ये इति । पुनः पुनः इत्यस्य भावः पौनः पुन्यम् । तत्रैव छान्दोग्यषष्ठे मानान्तरविषयीकरणमाचार्यवान् पुरुषो वेदेति सूचितमिति शेषः । तदनुष्ठानस्य चेति सगुणविद्याभिप्रायेणोक्तम् । आचार्यवान् पुरुषो वेदेति साहचर्यादिहोदाहृतं न पुनः फलवचनं तत् । तस्य तावदिति तु फलवचनमिहोदाहरणमिति द्रष्टव्यम् । उदाहरणान्तरं स्पष्टार्थम् । तथा च न्यायोवाचारम्भणश्रुतेरुपपत्तिपरत्वनिर्णयपरः । 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य' इति (ब्रह्मसूत्र २।१।१४) ।

एवं शाखान्तरेष्वप्युपक्रमोपसंहारादि निरूपणीयम् । तथा हि बृहदारण्यके तावत् । 'आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति' (बृह० १।४।७) इत्युपक्रमः । 'पूर्णमद' (बृह० ५।१।१) इत्युपसंहारः । 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृह० ३।६।२६) इत्यभ्यासः । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृह०) इत्यपूर्वत्वं सूचितम् । 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृह० ४।२।४) 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृह० ४।४।६) इत्यादि फलम् । 'तद्योयो देवानां' (बृह० १।४।१०) इत्याद्यर्थवादः । 'स यथा दुन्दुभेः' (बृह० २।४।७) इत्याद्युपपत्तिः ।

तथा तैत्तिरीयके । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तैत्ति० २।१।१) इत्युपक्रमः । 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्ति० ३।६।१) इत्युपसंहारः । 'स यश्चायं' (तैत्ति० ३।८।१) इत्यभ्यासः । 'यो वेद निहितं गुहायां' (तैत्ति० २।१।१) इत्यपूर्वतासूचनम् । 'अभयं प्रतिष्ठां बिन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति' (तैत्ति० २।७।१) इति फलश्रुतिः । 'सोऽकामयत' (तैत्ति० २।६।१) इत्याद्यर्थवादः । 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः' (तैत्ति०) इति 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तैत्ति० २।७।१) इत्युपपत्तिः ।

तथा मुण्डके च । 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मुण्ड० १।१।५) इत्युप-

क्रमः। 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२।११) इत्युपसंहारः। 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं' (मुण्ड० १।२।१३) 'तदेतदक्षरं ब्रह्म' (मुण्ड० २।२।२) 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (मुण्ड० २।२।५) इत्याद्यभ्यासः। 'न चक्षुषा गृह्यते नापिवाचा' (मुण्ड० ३।१।८) इत्यारभ्य। 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (मुण्ड० ३।२।६) इत्यन्तेनापूर्वतासूचनम्। 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मुण्ड० ३।१।३) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।६) इति फलश्रुतिः। 'यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गा' (मुण्ड० २।१।२) इत्याद्यर्थवादः। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १।१।३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञारूपा ह्युपपत्तिः। एवमैतरेयादिष्वपि शाखान्तरेषूपक्रमाद्यूहनीयम्।

अनुवाद—(१. **उपक्रम और उपसंहार** —) प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय का आदि और अन्त में उपपादन करना (क्रमशः) उपक्रम तथा उपसंहार है। जैसे—छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरण के प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) का 'एकमेवाद्वितीयम् (एक ही अद्वैत तत्त्व)' ऐसा आदि में और 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् (यह सब कुछ इसी से व्याप्त है)' ऐसा अन्त में प्रतिपादन करना (क्रमशः उपक्रम और उपसंहार है)।

(२. **अभ्यास**—) प्रकरण-प्रतिपाद्य वस्तु का मध्य में पुनः पुनः प्रतिपादन करना अभ्यास है। जैसे—वहीं (छान्दोग्य उपनिषद् में) अद्वितीय वस्तु के वर्णन के मध्य में 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के द्वारा नौ बार (ब्रह्म का) प्रतिपादन है।

(३. **अपूर्वता**—) प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का (आगम प्रमाण के अतिरिक्त) किसी दूसरे प्रमाण का विषय न होना अपूर्वता है। जैसे-वहीं (छान्दोग्य उपनिषद् में) अद्वितीय वस्तु को दूसरे प्रमाण का अविषय बताया गया है (अर्थात् 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा यह बतलाया गया है कि ब्रह्म उपनिषद् मात्र से ही जानने योग्य है; फलतः उसके विषय में अन्य कोई प्रमाण नहीं है। यही अपूर्वता है)।

(४. **फल**-)प्रकरण-प्रतिपाद्य आत्मज्ञान अथवा उसके अनुष्ठान का बताया जाने वाला प्रयोजन ही फल है। जैसे—वहीं (छान्दोग्य उपनिषद् में) आचार्यवान् पुरुष ही (ब्रह्म को) जानता है, उसके लिए मोक्ष-प्राप्ति में तभी तक विलम्ब है, जब तक उसका देह-बन्धन नहीं छूट जाता, उसके बाद वह ब्रह्ममय हो जाता है'-इस वाक्य में अद्वितीय वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन उस (अद्वितीय वस्तु) की प्राप्ति वर्णित है (यही फल है)।

(५. **अर्थवाद**-) प्रकरण-प्रतिपाद्य वस्तु की यत्र-तत्र प्रशंसा करना अर्थवाद है। जैसे—वहीं (छान्दोग्य में) 'उस वस्तु को पूछा, जिसके सुनने से बिना सुना हुआ भी सुना हुआ हो जाता है, न माना हुआ भी माना हुआ हो जाता है और न जाना हुआ भी जाना हुआ हो जाता है।' इस प्रकार अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा की गई है (यही अर्थवाद है)।

(६. **उपपत्ति**-) प्रकरण-प्रतिपाद्य वस्तु को सिद्ध करने के लिए यत्र-तत्र कही

जाने वाली युक्ति उपपत्ति है। जैसे—वही (छान्दोग्य में) 'हे सौम्य ! मिट्टी के लौंदे से बनी हुई एक वस्तु को जान लेने पर मिट्टी की सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, उसके विकार (घट आदि कार्य) केवल नाम रूप मात्र से अलग-अलग हैं, केवल मिट्टी ही सत्य है' इत्यादि में अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) की सत्यता को सिद्ध करने तथा ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सकल वस्तुओं की वाणी के द्वारा प्रस्तुत विकार मात्र होने की युक्ति सुनाई देती है (अर्थात् यह सब नकारात्मक संसार ब्रह्म का विवर्त है, केवल नाममात्र के लिए मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भेद हैं, एक ब्रह्ममात्र ही सत्य है और अन्त में वही एकमात्र शेष रह जाता है)।

टिप्पणी—अपूर्वता—श्रुति के प्रमाणों से ही ब्रह्म को जाना जा सकता है, अन्य प्रमाणों से नहीं—यही उसकी अपूर्वता है। ऋग्वेद इसका समर्थन करता है—'को श्रद्धा वेद का इह प्रावोचत्' अर्थात संसार का यह कारण लौकिक प्रमाणों से अज्ञेय है।

मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्। विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्। समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति। तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्। तदा मृण्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद् द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते।

वि० म०—मननं लक्षयति **मननं तु** इति। केवलं पुरुषबुद्ध युत्प्रेक्षितशुष्कतर्कव्यावृत्त्यर्थं वेदान्तानुगुण० इति विशेषणम्।

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ (मनु० १२।१०६)

इति स्मृतेः। अत्र धर्मशब्दो ब्रह्मणोऽप्युपलक्षणार्थः। अनवरतपदं मननस्यावश्यकत्वद्योतनार्थम्। निदिध्यासनलक्षणमाह **विजातीय** इति। चित्तस्य ज्ञेयात्मना निश्चलावस्थानं समाधिस्तं विभज्य लक्षयति समाधिः इत्यादिना। सविकल्पकः सम्प्रज्ञातसमाधिनि विकल्पकोऽसम्प्रज्ञातसमाधिरिति साम्प्रदायिकी संज्ञा द्रष्टव्या। तत्रेत्युद्दिष्टसमाधिद्वयं सप्तम्यर्थः। ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयं चेति यो विकल्पो विभागोल्लेखस्तस्य लयोऽभावस्तदनपेक्षया ज्ञात्रादिविकल्पोल्लेखपूर्वकमिति यावत्। **अद्वितीय०** इत्स्छेदः।

सविकल्पकसमाधिलक्षणार्थमुदाहरणेन प्रत्याययति तदा मृदिति। यथा मृद्विकारे गजे कुम्भकारादिनिर्मिते गजोऽयमित्यस्यां बुद्धौ गजाकारोल्लेखेऽपि मृन्मात्रमेव सत्यं भासते गजाकारस्य मिथ्यात्वनिश्चयादेवं ब्रह्माकारायां वृत्तौ ज्ञात्राद्याकारे उल्लिख्यमानेऽपि ब्रह्मैव सत्यं भासते न ज्ञात्रादिविकल्प इत्यर्थः।

अनुवाद—सुने गये अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) का वेदान्त के अनुरूप युक्तियों के द्वारा निरन्तर अनुचिन्तन करना मनन (कहलाता) है। विजातीय (ब्रह्म से भिन्न) देह आदि (सकल जड़ पदार्थों) के बोध से रहित (होकर) अद्वितीय वस्तु के सजातीय बोध (अर्थात एकमात्र ब्रह्मविषयक बोध) का प्रवाह चलना (अर्थात् निरन्तर बना रहना) निदिध्यासन (कहलाता) है। समाधि दो प्रकार की होती है—सविकल्पक और निर्विकल्पक। उनमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय (इन तीनों) के लय की अपेक्षा न करके अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में तदाकाराकारित (अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इस आकार से आकारित) चित्तवृत्ति का अवस्थित होना सविकल्पक कहलाता है। उस समय मिट्टी से बने हाथी आदि की प्रतीति होने पर भी अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) की प्रतीति होती रहती है (अर्थात् जैसे मिट्टी से बने हाथी आदि में मिट्टी और हाथी इन दोनों की प्रतीति होते हुए भी हाथी आदि नाम मात्र हैं, वास्तविक कारण मिट्टी सब में एक ही है, उसी भाँति ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान का भेद प्रतीत होना नाममात्र है, पर तद्गत अद्वैत की प्रतीति वास्तविक है)।

टिप्पणी—(१) **मनन**—वेदानुकूल युक्तियों (तर्कों) के द्वारा ब्रह्मचिन्तन करने को मनन कहते हैं। इससे ब्रह्मज्ञान में वेदविरुद्ध तर्क को अनुपादेय बताया गया है। √मन+ल्युट्—अन=मननम्। (२) **निदिध्यासनम्**—श्रवण और मनन के द्वारा जब चित्त संशयरहित हो जाता है तो आत्मा में समाहित चित्त की एकतानता या सदृश वृत्तियों का प्रवाह निदिध्यासन कहा जाता है—'ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्। एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥' (पञ्चदशी)। नि√ध्यं+सन्, द्वित्वादि+ल्युट्—अन। (३) **समाधि**—ज्ञेयरूप में चित्त की निश्चल स्थिति को समाधि कहते हैं। जिनमें ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय—इस त्रिपुटी का लय हुए बिना ही अद्वैत की अनुभूति हो, वह सविकल्पक समाधि है। सम्—आ√धा+कि।

तदुक्तम्—

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम् ॥ इति।

वि० म०—कथं तत्र ब्रह्म भासत इत्यपेक्षायां पूर्वाचार्यसम्मत्युदाहरणेन तत्स्वरूपमाह तदुक्तमभिनीय इति अभिनयमङ्गचेष्टाविशेषं कृत्वेत्यर्थः। दृशिस्वरूपं चैतन्यघनं 'विज्ञानघन एव' (बृह० २।४।१२) इत्यादिश्रुतेः। गगनोपमं सर्वगतम् 'आकाशवत् सर्वगतश्च' इति श्रुतेः। परं मायातीतम् 'अक्षरात्परतः परः' (मुण्ड० २।१।२) इत्यादि श्रुतेः। सकृद्विभातमेकदैव कृत्स्नमभिव्यक्तं 'सकृद्दिवा हैवास्मै भवति' (छा० ३।११।३) इत्यादिश्रुतेः। तुशब्दः पादपूरणार्थः। अजं जन्मादिविकारशून्यं 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठो० २।१८) इत्यादिश्रुतेः। एकं सजातीयविजातीयशून्यम् 'एको देवः' (श्वेता० ६।११) 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' (ऋक्संहिता १०।११४।५) इति श्रुतेः। अक्षरं कूटस्थं नित्यं 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं' (मुण्ड० १।२।१३) इति श्रुतेः। अलेपकं

निरवद्यं निरञ्जनं' (श्वेता० ६।१६) इति श्रुतेः। सर्वगतं सर्वानुस्यूतं सन्मात्रं 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम् (मुण्ड० (२।२।५) इत्यादि श्रुतेः। यदद्वयं स्वगतभेदशून्यम् 'अशब्दमस्पर्शमरूपम्' (कठ० ३।१५) इत्यादिश्रुतेः। तदेव चाहमस्मि 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह० १।४।१०) इति श्रुतेः। अतोऽहं सततं सर्वदैव विमुक्तो न कदापि बद्धो 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (कठ० ५।१) इति श्रुतेरिति: श्लोकार्थः।

अनुवाद—जैसा कि उपदेशसाहस्री में कहा गया है—जो साक्षिस्वरूप, आकाश के समान (सर्वव्यापी तथा अदृश्य), सबसे परे, सदा एक ही रूप में प्रकाशमान, अजन्मा, एक, अविनाशी, निर्लिप्त, सर्वव्यापक, अद्वितीय और सतत (कार्यकारणात्मक उपाधि से) विमुक्त परब्रह्म है, वही मैं हूँ।

टिप्पणी--(१) **दृशिस्वरूपम्**--साक्षिस्वरूप। (२)**गगनोपमम्**-आकाश के समान सर्वगत। गगनम् उपमा यस्य तत् (ब० स०)। (३) **परम्**--सबसे परे, मायातीत। (४) **सकृद्विभातम्**—एक ही बार प्रकाशित होने वाला अर्थात् एक बार जो प्रकाशित हुआ, उसी रूप में सदा रहने वाला। (५) **अजम्**—जन्म-रहित। न जायते इति अजम् √जन्+ड, नञ्तत्पुरुष। (६) **अक्षरम्**--विनाशरहित। न क्षरतीति अक्षरम् √क्षर्+अच्, नञ्तत्पुरुष। (७) **अलेपकम्**--निर्लिप्त। (८) **सर्वगतम्**—सबमें व्याप्त।

निर्विकल्पस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीय-वस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते। ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का न भवति, उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः।

वि० म०—निर्विकल्पकमसाधिं लक्षयति निर्विकल्पकस्तु इति। अतितरामेकीभावेनावस्थाने दृष्टान्तः तदा जलेति। दृष्टान्तदर्शितमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति अद्वितीयेति।

ननु सुषुप्तावपि ज्ञातृज्ञेयज्ञानविभागानां लयसम्भवात्तत्र निर्विकल्पकसमाधिलक्षणमतिव्याप्नोतीत्यत आह ततश्चेति। तत्र हेतुमाह उभयत्रेति। सुषुप्तौ बुद्धिरेव नास्ति बुद्धेः कारणात्मनावस्थानस्य तल्लक्षणत्वात्। [illegible] तु बुद्धिवृत्तेरद्वितीयवस्त्वाकाराकारिताया अवस्थानङ्गीकारात्सुषुप्तेर्भेदोपपत्ते[illegible]रित्यर्थः। नापि मुक्तावतिव्याप्तिस्तत्राविद्यातत्कार्यसंस्काराणामत्यन्तमुच्छेदात्। इह पुनर्व्युत्थानादिव्यवहारदर्शनेन तेषामनुवृत्तेरिष्टत्वात्। नापि जीवन्मुक्तौ प्रसङ्गस्तस्य व्युत्थानदशायामपि बाधितानुवृत्तिमात्रप्रपञ्चावभासेऽपि स्वस्वरूप एवावस्थानात् साधकस्य बाधितानुवृत्तिमात्रप्रपञ्चावभासाभावादिति द्रष्टव्यम्।

अनुवाद—ज्ञाता, ज्ञान आदि के विकल्प (भेदभाव) के विलीन हो जाने की अपेक्षा से (अर्थात् त्रिपुटी का लय हो जाने पर) अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में तदाकार से आकारित चित्तवृत्ति का अतिशय एकीभाव से अवस्थित रहना निर्विकल्पक समाधि है। तब निर्विकल्पक समाधि की अवस्था में जलाकार से आकारित नमक की प्रतीति न होने से जलमात्र की प्रतीति के समान अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) से आकारित चित्तवृत्ति की प्रतीति से अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) मात्र भासित होता है। (अर्थात् जिस प्रकार नमक की डली जल में घुलकर जल के ही आकार की हो जाती है और जल से भिन्न प्रतीत नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्म को विषय बनाने वाली तदाकाराकारित चित्तवृत्ति भी ब्रह्म में विलीन होकर अलग से भासित नहीं होती, अतः ब्रह्म मात्र का भान होता है) तब क्या इसकी सुषुप्ति से अभिन्नता है? ऐसी शंका होती है। दोनों स्थलों में वृत्ति की अप्रतीति समान होने पर भी (समाधि और सुषुप्ति में क्रमशः) वृत्ति के रहने और न रहने के कारण भेद की उपपत्ति हो जाती है (अर्थात् यदि निर्विकल्पक में वृत्ति का भान नहीं होता तो सुषुप्ति से इसमें क्या अन्तर रह जाएगा, कारण सुषुप्ति में भी तो वृत्ति का भान नहीं होता है। इसका उत्तर है कि वृत्ति का भान दोनों जगह नहीं होता है, यह ठीक है किन्तु निर्विकल्पक में वृत्ति रहती है और जल में नमक की तरह अद्वैत में उसकी तन्मयता हो जाने के कारण पृथक् भासित नहीं होती, पर सुषुप्ति में वृत्ति रहती ही नहीं। यही दोनों में अन्तर है)।

अस्यांगानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। तत्र 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'। 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि। रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः। इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः। अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा। तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्। समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव।

वि० म०—उक्तनिर्विकल्पकसमाधिस्वरूपोपकारकाण्यङ्गान्याह अस्य इति। तत्र यमानाह तत्रेति। वाङ्मनःकायैः परपीडावर्जनमहिंसा। सत्यं यथार्थभाषणम्। अस्तेयमदत्तादानरूपपरस्वहरणराहित्यम्। ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गमैथुनवर्जनम्। तथा चोक्तं

> 'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
> संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
> एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
> विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥

(इति दक्षसंहिता अध्या०)

अपरिग्रहः समाध्यनुष्ठानानुपयुक्तस्य वस्तुमात्रस्यासंग्रहः। नियमानाह शौच० इति शौचं बाह्याभ्यन्तरलक्षणम्। तदुक्तम्—

'शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्'॥ इति॥

(याज्ञ० गीता १।६६ तथा दक्षसंहि० ५।३)

सन्तोषो यदृच्छालाभसन्तुष्टिरलाभे चाविषादः। तपः कामानशनं 'तपो नानशनात्परम्' (महाना० २१।२) इति श्रुतेः। अनशनं च कामानशनमेव। केचित्तु 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः' (उपदेशसाह० १७।२४) इत्याद्युक्तलक्षणं तप इत्याहुः। सर्वथा तु नात्र चान्द्रायणादिः तपः शब्दार्थस्तस्य समाधिविरोधादिति द्रष्टव्यम्। स्वाध्यायः प्रणवजप उपनिषद्ग्रन्था वृत्तिश्च 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (मुण्ड० २।२।६) 'उपनिषदमावर्तयेत्' (अरुणो० २) इति श्रुतेः। ईश्वरप्रणिधानं तस्य मानसैरुपचारैरभ्यर्चनं 'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वेता० ६।१८) इति मन्त्रलिङ्गात्।

अथासनादीनि कथयति कर इति। स्वस्तिकादीनीत्यादिपदाद्भद्रवीरासनादिग्रहः। रेचकः प्राणवायोः शनैर्वामनासापुटाद्वा सव्यापसव्यन्यायेन बहिर्निः सारणम्। पूरकस्तस्य तथैवान्तः प्रवेशनम्। कुम्भकस्तु पूरितस्य वायोरन्तरेव निरोध इति भेदः। समाधेर्ध्यानस्य भेदं द्योतयितुं विच्छिद्य इति उक्तं सुगममन्यत्।

अनुवाद—इस (निर्विकल्पक समाधि) के (ये आठ) अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। उनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह-ये यम (कहलाते) हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर की उपासना—ये नियम (कहलाते) हैं। हाथ-पैर आदि को विशिष्ट स्थिति में रखना पद्म, स्वस्तिक आदि (नामक) आसन (कहलाते) हैं। रेचक, पूरक और कुम्भक लक्षण वाले, प्राणवायु को रोकने के उपाय प्राणायाम (कहलाते) हैं। इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से निवृत्त कर लेना प्रत्याहार है। अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में अन्तरिन्द्रिय (मन) को लगाना धारणा है। उस अद्वितीय वस्तु में अन्तःकरण की वृत्तियों का रुक-रुक कर प्रवाहित होना ध्यान है। (पूर्वोक्त) सविकल्पक समाधि को ही समाधि कहते हैं।

टिप्पणी—(१) **यम**—अहिंसा आदि पाँच प्रकार का यम योग के आठ अंगों में से पहला है। निर्विकल्पक समाधि में पहुँचने के लिये अष्टांग योग की साधना वेदान्त-मत में भी स्वीकृत है। √यम्+घञ्=यम। शंकराचार्य ने यम का लक्षण यह किया है—'सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः। यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥' (२) **अहिंसा**—मन, वाणी और कर्म से दूसरे को कष्ट न देना अहिंसा है। (३) **अस्तेय**—चोरी का सर्वथा परित्याग। (४) **ब्रह्मचर्य**—स्मरण, 'कीर्तन आदि अष्टांग मैथुन का अभाव। (५) **अपरिग्रह**—भोग-सामग्री का संग्रह न करना। (६) **शौच**—शुद्धि, पवित्रता। (७) **स्वाध्याय**—वेदादि शास्त्रों का अध्ययन। (८) **ईश्वर-**

प्रणिधान- -ईश्वर की शरण में जाना या उपासना करना। (९) आसन—शरीर की स्थिर तथा सुखकारक स्थिति। आस्यते अनेनेति आसनम् ✓ आस्+ल्युट्—अन। (१०) रेचक-पूरक-कुम्भक--नासिका द्वारा वायु का त्याग रेचक है, नासिका द्वारा वायु को ऊपर खींचना पूरक है और ऊपर वायु का अवरोध करना कुम्भक है।

एवमस्यांगिनो लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्त-वृत्तेर्निद्रा। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः। लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्ते रागादिवासनया स्तब्धी-भावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः। समाध्यारम्भ-समये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा।

वि० म०--एवं साङ्गसमाधिमनुष्ठितो यदातिवृष्ट्यनावृष्टिराष्ट्रविप्लवव्याघ्र-चौरज्वराद्युपद्रवविघ्नसम्भावना भवति तदा तन्निवृत्तिर्लोकावगतसाधनावलम्बनेन कार्या। यदा तु मनस्येव विघ्नाः प्रादुर्भविष्यन्ति तदा तन्निवारणोपायमुपदेष्टुकामस्तत्रत्यान्विघ्ना-न्निर्दिशति **अस्येति**। लयादीन्विभज्य लक्षयति **लयस्तावदिति**।

अनुवाद--इस प्रकार अंगी (अर्थात् उक्त आठ अंगों वाली) निर्विकल्पक समाधि के लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद नामक चार विघ्न हो सकते हैं अखण्ड वस्तु का आश्रय लिये बिना चित्तवृत्ति का निद्रावस्था को प्राप्त हो जाना लय (नामक विघ्न) है। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन लिये बिना चित्तवृत्ति का अन्य (सांसारिक) वस्तु को अवलम्बन बना लेना विक्षेप है। लय और विक्षेप के अभाव में भी चित्तवृत्ति का राग आदि वासनाओं के कारण स्तब्ध होकर अखण्ड वस्तु को अवलम्बन न बना सकना कषाय है। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन लिये बिना भी चित्तवृत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द का स्वाद लेना रसास्वाद है। अथवा (निर्विकल्पक) समाधि के आरम्भ के समय सविकल्पक के आनन्द का आस्वादन करना (अर्थात् सविकल्पक के आनन्द से ही सन्तुष्ट हो जाना) रसास्वाद है।

टिप्पणी-(१) **विक्षेप**--इसके लिये पक्षी का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे जहाज की मस्तूल पर बैठा हुआ पक्षी अन्य आश्रय की खोज में उड़ता है किन्तु आश्रय न मिलने पर पुनः उसी जहाज पर लौट आता है उसी प्रकार जब चित्तवृत्ति बाह्य विषयों को त्यागकर अखण्ड वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होता है, किन्तु उसकी प्राप्ति न होने पर पुनः विषयों की ओर लौट आता है, तो यह विक्षेप है। (२) **कषाय** जैसे कोई राज्यपाल के दर्शनार्थ अपने घर से निकलकर राजभवन में प्रवेश करते समय द्वारपाल द्वारा रोक दिया जाने पर स्तब्ध हो जाय उसी प्रकार बाह्य विषयों का त्याग करके अखण्ड वस्तु की ओर प्रवृत्त हुई चित्तवृत्ति का राग आदि के द्वारा रोक दिये जाने पर स्तब्ध हो जाना कषाय है।

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चितं निर्वातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते । तदुक्तम्—

'लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजनीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत् ।।
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसंगः प्रज्ञता भवेत्' इति ।
'यथा दीपो निवातस्थो नेगंते सोपमा स्मृता' इति च ।

बि० म०—उक्तलयादिविघ्नचतुष्टयाभावेन चित्तस्य ज्ञेये वस्तुनि यन्नैश्चल्यं तद्दृष्टान्तेन निर्विकल्पकसमाधिलक्षणमित्याह तदेति । विघ्ननिवृत्त्युपायं सम्मतिप्रदर्शनेनाह तदुक्तमित्यादिना लये सम्बोधयेत् उत्तम्भयेदोत्साहं मनः कुर्यादिति यावत् । विक्षिप्तचित्तं धैर्यावलम्बनेन पुनः शमयेत्पुनरद्वितीयवस्तुनिष्ठं कुर्यादित्येतत् । सकषायं चित्तं विजानीयात्कलुषितं मे चित्तमिति विज्ञाय च समेऽद्वितीयचैतन्यात्मनि निवेशयेत् । पुनः शमप्राप्तं तन्न चालयेत्तत्रैव प्रयत्नपूर्वकं स्थिरीकुर्यादित्यर्थः । रसं सविकल्पकानन्दं नास्वादयेत्तदानन्दमात्रेण कृतार्थतां न मन्वीत किन्तु प्रज्ञया विवेकबुद्ध्या निःसङ्गः सविकल्पकानन्देऽनासक्तो भवेदित्यर्थः । एवं विघ्नपरिहारे सति यन्निर्विकल्पकसमाध्यवस्थानं चित्तस्य तद्भगवद्वाक्योदाहरणेन दर्शयति यथा दीप इति ।

अनुवाद—इन चारों प्रकार के विघ्न से रहित होकर चित्त का, वायु-रहित स्थान में रखे दीपक के समान निश्चल होता हुआ अखण्ड चैतन्यमात्र के रूप में स्थित हो जाना निर्विकल्पक समाधि (कहलाता) है । जैसा कि (माण्डूक्यकारिका ३।४४–४५ में) कहा गया है ।

'लय (निद्रारूप) विघ्न के होने पर चित्त को जागरित करे, विक्षेप (नामक विघ्न) से युक्त चित्त को पुनः शान्त करे (अर्थात विषयों से चित्त को निवृत करे), कषाय से युक्त चित्त को समझे और शान्त चित्त को चंचल न होने दे । वहां (सविकल्पक समाधि में) रस का आस्वादन न करे और बुद्धि (विवेक) के द्वारा आसक्ति रहित हो जाये ।' 'जैसे वायुहीन स्थान में रखा दीपक चलायमान नहीं होता, वही उपमा (समाधिस्थ चित्त की) बताई गई है ।'

२९. जीवन्मुक्तलक्षणम्

अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते । जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिल-

बन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः । भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' इत्यादिश्रुतेः ।

वि० म०—एवंविधसमाध्यन्तसाधनानुष्ठानपरिपाके सति पूर्वोक्तप्रकारेण ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारे दृढीभूतेऽविद्यातत्कार्यात्मकसर्वसंसारनिवृत्तौ जायमानायां काकतालीयन्यायेन यदि प्रारब्धकर्मक्षयात्तत्काल एव विदुषः शरीरपातस्तदा सद्य एव मुक्तिः स्यात । यदा तु ज्ञानोत्पत्तिसमये प्रारब्धकर्म न क्षीयते तदा तत्क्षयपर्यन्तं शरीरस्यावस्थानाज्जीवन्नेव मुक्तसंसारो भवति । तस्य लक्षणं वक्तुं प्रतिजानीते अथ इति । अथशब्दः साधननिरूपणानन्तर्यार्थः ।

लक्षणमाह **जीवन्मुक्तो नाम** इति ब्रह्मनिष्ठत्वं वेदान्तवेद्यब्रह्मात्मनावस्थितत्वम् । ब्रह्मनिष्ठो जीवन्मुक्त इत्युक्ते परमार्थतो ब्रह्मनिष्ठत्वममुक्तस्याप्यस्तीत्यतो विशिनष्टि अखिलबन्धरहित इति । परममुक्तवैधर्म्यसिद्धये प्रारब्धकर्ममात्रशेष इति विशेषणान्तरमध्याहर्तव्यम् । कथमसौ मुक्त इत्यपेक्षायामाह **अज्ञानतत्कार्य०** इति । अज्ञानं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमित्याद्युक्तलक्षणम् । तत्कार्यं स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चद्वयम् । सञ्चितं कर्म ज्ञानोत्पत्तेः प्रागुत्पन्नमनारब्धफलम् । संशयो देहाद्यतिरिक्तो ब्रह्मस्वरूप आत्मा भवति न वेति । अथवा ब्रह्मात्मविज्ञानान्मोक्षो भवेन्नवेत्यादि विचिकित्सा । विपर्ययो देहादिष्वात्माभिमानादिलक्षणः । आदिशब्दाद्बाह्यप्रपञ्चे सत्यत्वबुद्धिः । एतेषां बाधितत्वान्मुक्त इत्यर्थः । एतत्कदा स्यादित्याकाङ्क्षायामाह **स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृते सति** इति । साक्षात्कारे साधनमाह स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेनेति ।

तत्त्वसाक्षात्कारान्तरं मुक्त एव भवतीत्यत्र प्रमाणमाह भिद्यत इति । हृदयग्रन्थिरहङ्कारश्चिज्जडात्मकत्वाद्ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः । सर्वसंशया दृष्टादृष्टार्थविषया विचिकित्साः । अस्यात्मनः कर्माणि जीवन्मुक्तिपक्षे प्रारब्धातिरिक्तानि सञ्चितानि क्रियमाणानि च । तथा च न्यायः 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र ४।१।१३) इति ।

परममुक्तिपक्षे प्रारब्धसहितान्यपि क्षीयन्ते । कदा । तस्मिन्निष्प्रपञ्चे ब्रह्मात्मनि दृष्टे सति साक्षात्कृते सति । कथम्भूते । परावरे सर्वात्मके । अत्र सर्वात्मकत्ववचनं तद्व्यतिरिक्तस्याभावपरम् । चौरः स्थाणुरिति वद्बाधायां सामानाधिकरण्यस्य विवक्षितत्वात् । यद्वा परो हिरण्यगर्भः सोऽवरो न्यूनो यस्मात्तस्मिन्परावर इत्याथर्वणीयश्रुत्यर्थः । आदिपदात् 'यस्तु सर्वाणि भूतानि', 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि' इति च मन्त्रद्वयमीशावास्यगतं परिगृह्यते । श्रुतेश्चेति चकारात् 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निः' (गीता ४।३७) 'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं' (गीता ४।३५) 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति' (गीता १८।५४) इत्यादि स्मृतयः समुच्चीयन्ते । न च जीवन्मुक्तौ प्रमाणाभावः । 'तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते' (बृह० ४।४।७) 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इत्यादिश्रुतेः 'प्रजहाति यदा कामान्' (गीता २।५५) 'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च' (गीता १४।२२) इत्यादिस्मृतेश्च प्रमाणत्वादिति द्रष्टव्यम् ।

हिन्दी-अनुवाद—अब जीवन्मुक्त का लक्षण बताया जा रहा है—अपने स्वरूप-भूत अखंड ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्मविषयक अज्ञान के बाध (दूर) हो जाने के द्वारा स्वरूप-भूत अखंड का साक्षात्कार हो जाने पर अज्ञान, उसके कार्य (सूक्ष्म और स्थूल प्रपञ्च) संचित कर्म, सन्देह और विपर्यय आदि के नष्ट हो जाने से समस्त बंधनों से रहित हुआ ब्रह्मनिष्ठ पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है। (क्योंकि श्रुति (मुण्डक० २, २, ८) कहती है—) 'उस कारण—कार्यरूप (सर्वात्मा) ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर इस (जीवन्मुक्त) पुरुष की हृदयग्रन्थि (हृदयस्थित अहंकार रूपी गाँठ) खुल जाती है, सारे सन्देह मिट जाते हैं और कर्म (के बंधन) क्षीण हो जाते हैं।

टिप्पणी--(१) जीवन्मुक्तो नाम............तात्पर्य यह है कि निर्विकल्पक समाधि को प्राप्त कर लेने पर साधक की मुक्ति हो जाती है। इस मुक्ति के दो भेद हैं—विदेहमुक्ति और जीवन्मुक्ति। यदि मुक्ति के प्राप्त होने पर तत्काल साधक का देहपात हो जाय तो उसे विदेहमुक्त या परममुक्त कहते हैं। किन्तु प्रारब्ध के शेष रहने पर उसका फल भोगने के लिए देह को धारण किये रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में साधक जीवन्मुक्त कहलाता है। इसी जीवन्मुक्त का लक्षण यहाँ बताया गया है।

(२) सञ्चितकर्म—कर्म के तीन प्रकार हैं--एक प्रारब्ध, दूसरे संचित और तीसरे क्रियमाण। जिन कर्मों का फल भोग करने के लिए यह शरीर प्राप्त हुआ है उनका भोग प्रारंभ हो चुका है, अतएव वे प्रारब्ध कहलाते हैं। इनका नाश भोगपूर्ण होने पर ही होता है। क्रियमाण कर्म वह है जो इस समय किया जा रहा है। इन कर्मों के संस्कार संचित होते रहते हैं। उनका भोग आगे होगा अतएव वे संचित कर्म कहलाते हैं। जब तक तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार नहीं होता है तब तक किये गये कर्मों से संस्कार बनते हैं। परन्तु आत्मसाक्षात्कार के बाद किये जाने वाले कर्मों से संस्कार नहीं बनते। इसलिए आत्मसाक्षात्कार के बाद मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रारब्ध कर्म और संचित कर्मों की समाप्ति का कार्य शेष रह जाता है। इन दोनों की समाप्ति होने पर ही मोक्ष होता है। इनमें से प्रारब्ध कर्मों का भोग तो नियत समय तक अर्थात् जब तक इस वर्तमान शरीर की आयु निर्धारित है तब तक चलता ही है। उसका उपपादन 'चक्रभ्रमि' के उदाहरण से किया गया है। जैसे कुम्हार एक बार अपने चाक को घुमा देता है तो उसमें जो वेग संस्कार उत्पन्न हो जाता है उसके कारण चाक बहुत देर तक घूमता रहता है। इसी प्रकार प्रारब्ध कर्मों के वश यह शरीर अपने भोग के समाप्त होने तक बना रहता है—'तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः' (सांख्यकारिका ६७) आत्म-ज्ञान के बाद जितने समय तक वर्तमान शरीर का नाश नहीं होता है तब तक साधक जीवन्मुक्ति की अवस्था में रहता है। इस अवस्था में वह जो कुछ भी कर्म करता है उसके उन कर्मों से नये संस्कार नहीं बनते हैं। इसीलिए कहा है कि मातृवध-पितृवध जैसे कर्मों से भी उनका कुछ नहीं बिगड़ता है।

(३) संशय—देहादि से भिन्न शुद्ध चैतन्यात्मा के अस्तित्व में सन्देह होना।

संशय है। अथवा ब्रह्मात्मविज्ञान से मोक्ष होता है या नहीं ऐसी विकल्प बुद्धि का होना संशय है।

(४) विपर्यय--देहादि अनात्मपदार्थों में आत्मबुद्धि का होना विपर्यय या विपरीतज्ञान है।

(५) ब्रह्मनिष्ठः--ब्रह्म में जिसकी अविचल स्थिति हो गई है। ब्रह्मणि निष्ठा यस्य स ब्रह्मनिष्ठः। 'वेदान्तवेद्यब्रह्मात्मनावस्थितत्वम् ब्रह्मनिष्ठत्वम्' अर्थात् वेदान्तवेद्य ब्रह्म के रूप में स्थिर होना ही ब्रह्मनिष्ठता है--यह स्वामी रामतीर्थ का मत है।

(६) परावरे--जो पर (पूर्वभावी या कारण) भी हो और अवर (पश्चाद्भावी या कार्य) भी हो। ब्रह्म जगत् का कारण भी है और कार्य भी, अतः उसे परावर कहते हैं। स्वामी रामतीर्थ ने 'परो हिरण्यगर्भः सोऽवरो न्यूनो यस्मात्तस्मिन् परावरे' अर्थात् पर (हिरण्यगर्भ) भी जिसकी अपेक्षा अवर न्यून है, उस ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर --ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की है। इस मन्त्र का भाव यह है कि आत्मतत्त्व के साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि अर्थात् अविद्या वासनायें टूट जाती हैं और ज्ञेयपदार्थगत सकल सन्देह मिट जाते हैं। संशयों के नष्ट होने से तथा अविद्या के निवृत्त हो जाने से पुरुष के सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं और पुरुष मुक्त हो जाता है।

अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेणान्ध्यमान्द्यपटुत्वादिभाजनेन्द्रियग्रामेणाशनायापिपासाशोकमोहादिभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यति। यथेन्द्रजालमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति। 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव' इत्यादिश्रुतेः।

वि० भ०--ननु जीवन्मुक्तो देहेन्द्रियादिभिर्व्यवहरति न वा। आद्ये तस्य बद्धान्न विलक्षणता। द्वितीये देहस्यानुपयोगात्सद्यः पातप्रसङ्गः इत्याह अयं तु इति। आरब्धफलानि भुज्यमानानि पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि च कर्माणि साक्षितया कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानहीनोऽन्यदृष्ट्या पश्यन्निव भासमानोऽपि परमार्थतः स्वदृष्ट्या न पश्यति ज्ञानेन कर्तृत्वाद्यभिमानमूलाज्ञानस्य बाधितत्वात्तदधीनस्य देहस्य न सद्यः पातप्रसङ्ग इति द्रष्टव्यम्। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति यथेन्द्रजालम् इति। बाधितत्वबुद्धेरनुवृत्तेरित्यर्थः।

जीवन्मुक्तो देहादिभिर्व्यवहरन्निव दृश्यमानोऽपि न परमार्थतो व्यवहरतीत्यत्र श्रुतिं प्रमाणयति सचक्षुरचक्षुरिवेति। चक्षुरादिमानपि प्रपञ्चरूपाद्यदर्शनाच्चक्षुरादिहीन इव भवतीत्यर्थः। आदिपदात् 'तदेजति तन्नैजति' (ईशा० ५) इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः।

हिन्दी-अनुवाद—(प्रश्न उठता है कि जीवन्मुक्त पुरुष देह या इन्द्रियों से व्यवहार करता है कि नहीं। यदि करता है तो बद्ध पुरुष और जीवन्मुक्त पुरुष में क्या अन्तर हुआ? यदि नहीं करता है तो उपयोग के अभाव में उसके शरीर का तत्काल विनाश हो जाना चाहिए। इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं—) यह जीवन्मुक्त पुरुष समाधि से उठने पर या जाग्रत् अवस्था में मांस, रक्त, मूत्र, विष्ठा आदि के पात्र शरीर के द्वारा अन्धापन, जड़ता और अकुशलता आदि के पात्र इन्द्रिय-समूह के द्वारा तथा भूख, प्यास, शोक, मोह आदि के पात्र अन्तःकरण के द्वारा पूर्व पूर्व वासना के कारण किये जाते हुए कर्मों को और प्रारब्ध कर्मों के ज्ञान के अनुकूल फलों को देखता हुआ भी (अज्ञान के) बाधित हो जाने से वस्तुतः नहीं देखता है। जिस प्रकार 'यह इन्द्रजाल है' ऐसा समझने वाला पुरुष उस इन्द्रजाल को देखता हुआ भी 'यह सत्य है' इस रूप में नहीं देखता है। श्रुति भी कहती है—'नेत्र वाला होते हुए भी नेत्ररहित के समान, कानवाला होते हुए भी कानरहित के समान (प्रतीत होता है)' इत्यादि।

टिप्पणी—(१) **व्युत्थानसमये**--समाधि से उठने पर या बोधरूप जागृति प्राप्त करने पर। (२) **आन्ध्य**--अंधापन। अन्धस्य भावः आन्ध्यम् अन्ध+ष्यञ्। (३) **मान्द्य**—जड़ता। मन्दस्य भावः मान्द्यम् मन्द+ष्यञ्।

(४) **अशनाया**-भूख। अशनम् इच्छति अशन-क्यच् (ना० धा०)+अ भावे स्त्रियां टाप्। (५) **यथेन्द्रजालमिदमिति**--भाव यह है कि जिस प्रकार इन्द्रजाल-निर्मित राजप्रासाद का मिथ्यारूप से भान होने पर भी उसके सत्यत्व का भान कदापि नहीं होता है, उसी प्रकार अनादि अविद्या के द्वारा कल्पित देहेन्द्रियादि का मिथ्यारूप से भान होने पर भी परमार्थतया मान नहीं होता है। इसी को दग्धपटन्याय और इन्द्र-जालनिर्मित सौधसमुद्रादिन्याय कहा जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि जीव-न्मुक्त के लिए शरीरेन्द्रियादि का वास्तविक उपयोग नहीं है तो ब्रह्मज्ञान होने पर उसका शरीरपात क्यों नहीं हो जाता है? इसका उत्तर है कि देहेन्द्रियादि की सत्ता प्रारब्ध कर्मों के अधीन है। जब तक प्रारब्ध कर्म अवशिष्ट है तब तक शरीरादि नष्ट नहीं हो सकते। जैसे किसी शक्तिमान् पुरुष द्वारा फेंका गया बाण तब तक नहीं रुक सकता जब तक कि उसका वेग कम नहीं हो जाता। वैसे ही जिस आरब्धविपाक कर्म के फलस्वरूप यह शरीर उपलब्ध हुआ है उस कर्म का वेग जब तक क्षीण नहीं होता तब तक शरीरादि का निवारण सम्भव नहीं है। ब्रह्मज्ञान भी उसके वेग को अवरुद्ध करने में असमर्थ है। आदि शंकराचार्य ने (विवेक-चूड़ामणि ४५२, ४५३ में) लिखा है—

'ज्ञानोदयात् पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत्॥
व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ।
न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्॥

अर्थात् लक्ष्य की ओर छोड़े गये बाण के समान ब्रह्मज्ञान के उदय होने से पूर्व आरम्भ हुआ कर्म अपना फल दिये बिना ब्रह्मज्ञान से नष्ट नहीं होता है। जैसे व्याघ्र समझकर गाय की ओर छोड़ा गया बाण पीछे उसको गाय जान लेने पर भी बीच में नहीं रुकता है, बल्कि वेगपूर्वक अपने लक्ष्य को वेध ही देता है।

फिर प्रश्न होता है कि 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥' इस गीतास्मृति के प्रमाण से ब्रह्मज्ञान द्वारा प्रारब्ध कर्म का भी नाश हो जाता है और जब कर्म ही नहीं रहा तब उसका फलभोग कैसा ? इसका उत्तर है कि जिस प्रकार कुलालचक्र में एक बार वेग उत्पन्न हो जाने पर मध्य में उसको रोकना असम्भव होने से उसके वेगक्षय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है उसी प्रकार प्रारब्ध के वेगक्षय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है अर्थात् प्रारब्ध ने जो फल देना प्रारम्भ कर दिया है उसका वेग जब तक अपने आप शान्त नहीं हो जाता है तब तक शरीर धारण करना ही पड़ेगा।

उक्तं च—

'सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति
द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्चयः
स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः ॥" इति।

वि० म०—उक्तेऽर्थे पूर्वाचार्यसम्मतिमाह उक्तं च सुषुप्तिवदिति। जाग्रति जाग्रदवस्थायां द्वयं पश्यन्नपि यः सुषुप्तिं गतवद्विशेषतो न पश्यति स आत्मवित्। विशेषादर्शने हेतुरद्वयत्वत इति। द्वयस्य बाधितत्वादित्यर्थः। तथा कुर्वन्नपि न करोति यतो निष्क्रिय इति योजना। तथा च वसिष्ठः 'सुषुप्तवद्यश्चरति स मुक्त इति कथ्यते (योगवासिष्ठ ५। १६।१९) इति।

अन्वय—यः अद्वयत्वतः जाग्रति द्वयं पश्यन्नपि सुषुप्तवत् न पश्यति, तथा च यः कुर्वन्नपि निष्क्रियः सः आत्म-वित् अन्यः न इति इह निश्चयः ॥

अनुवाद—(उपदेश साहस्री १०, १३ में) कहा भी है—जो अद्वैत का निश्चय हो जाने के कारण जाग्रत् अवस्था में द्वैत को देखते हुए भी नहीं देखता है और जो कर्म करते हुये भी निष्क्रिय है, वही आत्मज्ञानी है, अन्य नहीं—ऐसा यहाँ (वेदान्त में) निश्चय है।

टिप्पणी—(१) **अद्वयत्वतः**—अद्वैत का निश्चय या बोध हो जाने से। न द्वयम् अद्वयम् (न० त०), अद्वयस्य भावः अद्वयत्वम् अद्वय+त्व, तस्मात् इति पञ्चम्यर्थे तसिः =अद्वयत्वतः। (२) **निष्क्रियः**—क्रियारहित, निश्चेष्ट। निःनास्ति क्रिया यस्य सः (ब० स०)। (३) **आत्मवित्**—आत्मज्ञानी। आत्मानं वेत्ति इति आत्मवित् आत्मन् √विद्+क्विप्।

अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्ति-वच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा । तदुक्तम्—

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥' इति ।
ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः ।' इति च ।

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणा-श्चालङ्कारवदनुवर्तन्ते । तदुक्तम्—

उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः ॥ इति ।

वि० म०—नन्वसौ जीवन्मुक्त इति कथमन्यैर्ज्ञायत इति तदाह अस्य ज्ञानात्पूर्वम् इति । अशुभवासनानां साधकावस्थायामेव निवर्तितत्वाच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । ननु शास्त्रविहितं शुभमेवाचरतो न साधकाद्भेद इत्यपरितुष्यन्निवाह शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा इति औदासीन्यमुपेक्षा 'हिंसानुग्रहयोरनारम्भी' इति गौतमस्मरणात् (गौतमधर्मशास्त्र ३।२४।२५) ।

'निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥'

इति व्यासवचनात् । 'अमौनं मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' इति बृहदारण्यकश्रुतेश्च (३।५।१) । तथा चौदासीन्यमेव मुक्तलक्षणं न विधिपरतन्त्रप्रवृत्तिमत्त्वं न वा निषेधातिक्रम इति भावः ।

विधिनिषेधशास्त्रपदवशत्वं चेन्मुक्तस्य न भवेत्तर्हि यथेष्टाचरणं प्राप्नोतीत्याशङ्कां नैष्कर्म्यसिद्धिवाक्येन प्रत्याचष्टे तदुक्तं बुद्ध इति । सतत्त्वं याथात्म्यम् । मुमुक्षोरपि नास्ति यथेष्टचेष्टाविदुषो मुक्तस्य कुत एव सा । तदप्युक्तम्—

'यो हि यत्र विरक्तः स्यान्नासौ तस्मिन् प्रवर्तते ।
लोकत्रयाद्विरक्तत्वान्मुमुक्षुः किमितीहते ॥
क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नामूढस्तज्जिघत्सति ॥
रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु ।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः ॥ इत्यादि ।
(नैष्कर्म्य सिद्धि ५।६५-६७)

नन्वविद्याकार्यत्वाद्यथेष्टचेष्टाया अविद्यानिवृत्त्या तन्निवृत्तिवदमानित्वादीनां द्वेष्टृत्वादीनामप्यविद्याकार्यत्वाविशेषान्निवृत्तिरेव स्यान्नानुवृत्तिरित्याशङ्क्य नियोगवशाद-

नुवृत्त्यभावेऽपि निवृत्तिशास्त्राविरुद्धस्वभावान्न निवर्तेरन्निति दर्शयति तत्रापीम् इति। तत्रापि नैष्कर्म्यसिद्धिमुदाहरति तदुक्तमुत्पन्ना इति।

अनुवाद--इस (आत्मज्ञानी) में, जिस प्रकार ज्ञान से पूर्व विद्यमान आहार-विहार आदि की ही अनुवृत्ति होती है (अन्य प्रकार के आहार-विहार आदि की नहीं), उसी प्रकार (ज्ञान से पूर्व विद्यमान) शुभ वासनाओं की ही अनुवृत्ति होती है अथवा शुभ और अशुभ दोनों के प्रति (उसकी) उदासीनता हो जाती है। जैसा कि (नैष्कर्म्य सिद्धि ४, ६२ में) कहा गया है—

'जिसको अद्वैत के वास्तविक स्वरूप का बोध हो चुका है, वह यदि यथेच्छ (मनमाना) आचरण करे तो अशुचिभक्षण करने पर कुत्तों और तत्त्वदर्शियों में क्या भेद रह जायेगा ?' (उपदेश साहस्री १२, १३ में भी कहा गया है) ब्रह्मज्ञानी होने का अभिमान त्यागकर वह आत्मज्ञानी बनता है, दूसरा नहीं (बन सकता है अर्थात् जो ब्रह्मज्ञान के अभिमान में आकर मनमाना आचरण करता है, वह आत्मज्ञानी नहीं होता है)।

उस समय (जीवन्मुक्त-दशा में) अभिमानी न होना आदि ज्ञान के साधन तथा द्वेषरहित होना आदि उत्तम गुण आभूषण के समान (उसका) अनुवर्तन करते हैं। जैसा कि (नैष्कर्म्यसिद्धि ४, ६९ में, कहा गया है—

'जिसको आत्मबोध उत्पन्न हो गया है, उसमें द्वेषरहित होना आदि गुण बिना प्रयास के आ जाते हैं, साधन के रूप में नहीं रहते हैं।'

टिप्पणी--(१) **ज्ञानात्पूर्वं**—भाव यह है कि जीवन्मुक्त पुरुष ज्ञानोदय से पूर्व साधक अवस्था में पवित्र आहार-विहार एवं शुभ वासनाओं का अभ्यास किये रहता है, अतः अभ्यास-वश ये ही चीजें उसकी ज्ञानावस्था में भी अनुवर्तित होती हैं। इस पर आशंका होती है कि जीवन्मुक्त पुरुष जो कार्य साधकावस्था में करता था, वही कार्य यदि ज्ञानोत्तर दशा में भी करता है तो उसकी दोनों अवस्थाओं में अन्तर क्या हुआ ? इसका समाधान है कि ज्ञानोत्तरदशा में शुभाशुभ कर्मों के प्रति उसकी उदासीनता हो जाती है। उसकी यह उदासीनता सांसारिक प्रपंच से आत्यन्तिक असंगता की द्योतक है। जैसा कि गौतमधर्मशास्त्र में कहा गया है 'समो भूतेषु हिंसानुग्रहयोः' तथा 'अनारम्भी' (३।२४, २५)। अर्थात् ज्ञानी पुरुष सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, चाहे वे उसे हानि पहुँचायें और चाहे कृपा करें। वह अपने लौकिक अथवा पार-लौकिक लाभ के लिए किसी कार्य को आरम्भ नहीं करता है।'

(२) **बुद्धाद्वैतस तत्त्वस्य**--जिसने अद्वैत को तत्त्वरूप से जान लिया है। (३) **यथेष्टाचरणम्**--मनमाना आचरण। इसके भीतर प्रश्न है कि यदि जीवन्मुक्त की दृष्टि में सारा प्रपञ्च मिथ्या हो जाता है तो उसके लिए पाप-पुण्य में कोई अन्तर नहीं रहेगा। तब तो वह मनमाना आचरण या कार्य भी कर सकता है, इसका उत्तर यहाँ दिया गया है कि वह पूर्वाभ्यस्त शुभ कर्म ही करता है अशुभ नहीं। यदि वह भी मन-माना आचरण अर्थात् अभक्ष्यभक्षण, अगम्यागमन आदि अनाचार करने लगे तो उसमें

और कुत्ते में क्या अन्तर रह जाएगा, जो अपवित्र वस्तुओं को खाता फिरता है तथा रतिक्रिया में माँ-बहन का भी विवेक नहीं कर पाता है। वस्तुतः ब्रह्मज्ञान से पूर्व ही जो उसने शुभ कर्म करने का संकल्प कर लिया था, उसी का अनुवर्तन उसकी जीवन्मुक्तावस्था में भी होता है। अतः उपर्युक्त प्रश्न का कोई औचित्य ही नहीं है। नैष्कर्म्यसिद्धि में इसका बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। देखिए ऊपर वि० म० में 'यो हि यत्र विरक्तः' इत्यादि श्लोक। इन श्लोकों का भाव यह है कि जो मनुष्य जिससे विरक्त हो जाता है उसमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। भला, तीनों लोक से विरक्त पुरुष को किस वस्तु की चाह होगी! कोई भी मनुष्य क्षुधा से पीड़ित होने पर भी विष को खाने की इच्छा नहीं करता है, फिर भला मिष्टान्न खाने से जिसकी भूख मिट चुकी है, ऐसा बुद्धिमान् पुरुष जानते हुए विष को खाने की इच्छा कैसे कर सकता है! इसी प्रकार ब्रह्मानन्द में अवगाहन करने वाला ब्रह्मज्ञानी आयाससाध्य विषयजन्य सुखलेश के साधन में कैसे प्रवृत्त होगा! चित्त की स्वाभाविक प्रवृत्ति के आलम्बनभूत शब्दादि विषयों में राग का होना अज्ञान का चिह्न है फिर जिसका अज्ञान मिट गया है उसकी प्रवृत्ति अज्ञान के कार्य में कैसे होगी! जिस वृक्ष के कोटर में अग्नि हो, उसमें हरियाली कैसे रह सकती है! इसी प्रकार जिसके अन्तःकरण में ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो जाती है उसमें राग कैसे ठहर सकता है!

(४) अमानित्वादीनि—अमानित्व (अभिमान का अभाव) आदि। अमानित्व आदि ज्ञान-साधनों का वर्णन गीता (१३।७।११) में द्रष्टव्य है। (५) अद्वेष्टृत्वादयः—अद्वेष्टृत्व (द्वेष का अभाव) आदि। अद्वेष्टृत्व आदि सद्गुणों का वर्ण गीता (१२।१३-१८) में अवलोकनीय है।

किं बहुनायं देहयामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तः करणाभासादी[illegible]भासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशात् परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभासरहितमखण्डब्रह्मावतिष्ठते। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति', अत्रैव समवलीयन्ते', 'विमुक्तश्च मुच्यते' इत्यादिश्रुतेः।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्दविरचितो

वेदांतसारः समाप्तः॥

वि० म०—इदानीमुक्तं जीवन्मुक्तमनूद्य तस्य परममुक्तिं दर्शयति किं बहुना इति। देहयात्रा देहस्थितिः। तन्मात्रार्थं न त्विन्द्रियप्रीत्यर्थम्। सुखदुःखलक्षणानि सुखदुःखसाधनानि। आरब्धफलानि भोग्यानि। अनुभवन्नसङ्गतया भुञ्जानः। कथं भुञ्जान इत्युच्यते अन्तःकरणाभासादीनां विषयाकारवृत्तीनां साक्षितयावभासकः सन्निति यावत्। तद-

वसाने प्रारब्धफलभोगावसाने जात आश्रयाभावात्प्राणे ब्रह्मणि लीने सति पूर्वसिद्धज्ञानेनैव प्रारब्धकर्मान्तिमाज्ञानतत्कार्यतत्संस्काराणामपि विनाशात्सञ्चितकर्मणां ज्ञानेन दाहात्क्रियमाणैश्चासंश्लेषात्पुनर्देहान्तरहेत्वभावात्परमकैवल्येत्यादिनोक्तब्रह्मस्वरूप एवावतिष्ठते विद्वानित्यर्थः ।

निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारवतः प्राणा नोत्क्रामन्ति किन्तु प्रत्यग्ब्रह्मण्येव तत्प्रायः-पीताम्बुवल्लीयन्त इत्यत्र प्रमाणमाह न तस्य इति । मुक्तेरसाध्यत्वे काठकश्रुतिं प्रमाणयति विमुक्तश्च विमुच्यत इति । पूर्वमपि मुक्त एव सन्नविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपोपाध्यविवेकनिबन्धनस्यसंसाराभासस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयप्रत्यग्ब्रह्मरूपोऽहमस्मीत्यपरोक्षज्ञानाद्विलयापेक्षया विमुच्यत इत्यर्थः । वस्तुतस्तु न बन्धो न वा मोक्षः । तथा च श्रुतिः ।

'न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥'
(गौडपादस्य कारिका २।३२ इत्याद्या) ।

विद्यासीतावियोगक्षुभितनिजसुखः शोकमोहाभिपन्न-
श्चेतः सौमित्रिमित्रो भवगहनगतः शास्त्रसुग्रीवसख्यः ।
हत्वास्ते दैन्यवालिं मदनजलनिधौ धैर्यसेतुं प्रबध्य
प्रध्वस्ताबोधरक्षः पतिरधिगत चिज्जानकिः स्वात्मरामः ॥
वेदान्तसारविवृतिं रामतीर्थाभिधो यतिः ।
चक्रे श्रीकृष्णतीर्थश्रीपदपङ्कजषट्पदः ॥

इति श्रीकृष्णतीर्थपूज्यपादशिष्यश्रीरामतीर्थयतिविरचिता विद्वन्मनोरञ्जनीनाम्नी वेदान्तसारटीका समाप्ता ॥

हिन्दी-अनुवाद—(परममुक्ति का निरूपण—) अधिक कहने से क्या लाभ, यह (जीवन्मुक्त पुरुष) शरीर की यात्रा (स्थिति, रक्षा) मात्र के लिए इच्छा, अनिच्छा और परेच्छा से प्राप्त कराये गये सुख, दुःख रूप प्रारब्ध फलों का (अनासक्त भाव से) अनुभव करता हुआ अन्तःकरण के आभास (विषयाकार चित्तवृत्तियों) आदि का (साक्षिरूप से) प्रकाशक होता हुआ उस (प्रारब्ध) का अंत होने पर, आन्तरिकात्मानन्दस्वरूप परब्रह्म में प्राण के लीन हो जाने पर अज्ञान तथा उसके कार्य और संस्कारों का भी विनाश हो जाने से परमकैवल्य (मोक्ष) स्वरूप, आनन्दैकरस, समस्त भेद-प्रतीतियों से रहित अखण्ड ब्रह्म के रूप में अवस्थित होता है । श्रुतियाँ भी कहती हैं—'उस (जीवन्मुक्त) के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं' बृह० ४।४।६) 'वे यहीं (परमात्मा में) लीन हो जाते हैं' (बृह० ३।२।११), '(अज्ञान के बंधनों से) विमुक्त हुआ (जीवन्मुक्त पुरुष) मुक्त (अर्थात् विदेहमुक्त) हो जाता है' (कठ० २।२।१) इत्यादि ।

श्रीपरहंसपरिव्राजकाचार्य सदानन्द द्वारा रचित वेदान्तसार (नामक ग्रन्थ) समाप्त ॥

टिप्पणी—(१) देहयात्रार्थम्—केवल देहधारण के प्रयोजन से (न कि इन्द्रियों

की प्रीति के लिए)। (२) **इच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि**—अर्थात् स्वेच्छा-प्रारब्ध, अनिच्छा प्रारब्ध तथा परेच्छा प्रारब्ध द्वारा प्राप्त कराये गये। न्यायपूर्वक जीविका अर्जन करने में कष्ट अंगीकार करना आदि स्वेच्छा-प्रारब्ध हैं। इनके करने के लिए जो अन्तः प्रेरणा होती है, उसका कारण प्रारब्ध है। मार्ग में जाते समय बिजली गिर जाना आदि दुःखरूप भोग तथा कोई मूल्यवान् वस्तु प्राप्त हो जाना आदि सुख रूप भोग, जिनकी प्राप्ति की इच्छा न होने पर भी जो दैवयोग से अपने आप प्राप्त हो जाते हैं, अनिच्छा-प्रारब्ध है। जानबूझकर किसी के द्वारा कष्ट दिया जाना आदि दुःख रूप भोग और कुमार्ग की ओर जाते हुए को सत्पुरुष द्वारा रोककर बचा देना आदि सुखरूप भोग, जो दूसरों की इच्छा से प्राप्त होते हैं, परेच्छा-प्रारब्ध है। जीवन्मुक्त भी उक्त तीन प्रकार के प्रारब्ध भोग से अछूता नहीं रहता।

(३) **अन्तःकरणाभासादीनामवभासकः**—यहाँ अन्तःकरण के आभास का तात्पर्य अन्तःकरण के भीतर किसी भी विषय के साक्षात्कार के समय उत्पन्न होने वाली तदाकाराकारित चित्तवृत्ति से है। जीवन्मुक्त पुरुष इन्द्रियों और अन्तःकरण की विषयाकार वृत्तियों का साक्षिरूप से द्रष्टा मात्र रहता है, ज्ञान के पूर्व वह अन्तःकरणादि की वृत्तियों से सुखी और दुःखी होता था, परन्तु तत्त्वज्ञान होने पर वह समस्त विषयाकार वृत्तियों का तटस्थ निरपेक्ष द्रष्टा मात्र रहता है।

(४) **परमकैवल्यम्**—एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म का ही त्रिकालाबाधित अस्तित्व होने से तथा नानात्व के अविद्यानिर्मित होने से ब्रह्म ही परमकैवल्य कहा जाता है।

(५) **आनन्दैकरसम्** परमकैवल्य ब्रह्म सदा एकरस, विशुद्ध आनन्दमात्र होता है, इसलिए आनन्दैकरस कहलाता है।

(६) **न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति**—मृत्यु के समय देहधारियों के प्राण उत्क्रमण (ऊपर की ओर गमन) करते हैं, किन्तु ज्ञानियों के समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से गमन का कोई कारण नहीं रह जाता। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—'तस्य······ कर्माभावे गमनकारणाभावात् प्राणवागादयः नोत्क्रामन्ति देहात्'।

(७) **विमुक्तश्च विमुच्यते**—भाव यह है कि विदेहमुक्ति हो जाने पर जन्ममरणरूप संसारचक्र की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, अतः मुक्त को दूसरा शरीर धारण नहीं करना पड़ता है। जैसा कि सूतसंहिता (३,७,७६-७८) में कहा गया है—

'यस्मिन् देहे दृढं ज्ञानमपरोक्षं विजायते।
तद्देहपातपर्यन्तमेव संसारदर्शनम्॥
पुरापि नास्ति संसारदर्शनं परमार्थतः।
कथं तद्दर्शनं देहविनाशादूर्ध्वमुच्यते॥
तस्माद् ब्रह्मात्मविज्ञानं दृढं चरमविग्रहे।
जायते मुक्तिदं ज्ञानं प्रसादादेव मुच्यते॥'

(८ परमहंस—उत्तम कोटि का संन्यासी । महाभारत में संन्यासियों की चार कोटियाँ बताई गई हैं—

(१) कुटीचक, (२) बहूदक, (३) हंस और (४) परमहंस । इनमें क्रमशः एक दूसरे से उत्तम कहा गया है—

'चतुर्विधाः भिक्षवस्ते कुटीचकबहूदकौ ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात्स उत्तमः ॥'

परमः श्रेष्ठः हंसः सोऽहम् आत्मा यस्य स परमहंसः । (६) परिव्राजक—संन्यासी ।

❀ श्रीश्रीकृष्णार्पणमस्तु ❀